

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180015

UNIVERSAL
LIBRARY

कापी राइट
छादेवी मित्रा
१९३६

प्रथम संस्करण, १९३९
द्वितीय संस्करण, १९४२
तृतीय संस्करण, १९४५
चतुर्थ संस्करण, १९४८
[मूल्य तीन रुपया]

मुद्रक : श्रीपतराय
सरस्वती प्रेस,
बनारस

जीवन की मुस्कान

जीवन की मुस्कान

[१]

जीवन के अणु-परमाणु में व्यंग की मुस्कान रहती है या पृथ्वी जीवन में बसी मुसकराया करती है, इसका निश्चय यदि हुआ भी हो, या इसमें अनेक मतवाद हों तो हों ; किन्तु उस दिन की विवाह-सभा में एक रँगीली मुस्कान थी—इस बात को निश्चय से कहा जा सकता है ।

शहर की प्रसिद्ध बाईजी पूरवी अपने लचकते हुए स्वर से ठुमरी में ठुनुक रही थीं, सारङ्गी-वादक झुका पड़ रहा था, तबलची का सिरडाक्टर कमलेश से टकराने ही को था, दर्जकों के नेत्रों में एक लालसपूर्ण खुशी थी । केवल एक व्यक्ति था पृथ्वीश, जिसके नेत्र व्यथा में स्तिमित-से हो रहे थे । वह वर-यात्री के साथ आया था ।

दीर्घ तीन वर्ष के बाद भारतवर्ष में लौटे पृथ्वीश को महीना-दो महीना हुआ था । श्रेष्ठवार में यह ब्रिटिश का सैनिक बनकर गया था । महायुद्ध में एक अखंड गवाकर जब वह लौटा, तो अपना देश उसे जाने कैसा सूना, निर्जीव-सा लगने लगा ।

गान की भाषा को नाना प्रकार रूप, रंग, रस से भाव द्वारा प्रकाशित कर पूरवी गा रही थी—

‘अजब रँगीली अँखियाँ तोरी ।’

हिना की सुगन्ध में सभा की वायु बस-सी गई और उस वायु के प्रत्येक कम्पन में अनेक मादकता, अनेक उच्छ्वलता, अनेक चुम्बन, अनेक आकर्षण मड़राने-से लग गये । एक चित्र सभा के सामने खिंच गया, जिस चित्र में शराब भरी पिचकारी लिये भाव-विलासमयी सुन्दरी होली खेलने में भूमने

लगी। उसके नूपुर-सिञ्जन में चुम्बन की मोह-मिठास मूर्त हो उठी, और उस मिठास को आकण्ठ पान करने के लिए सभा आतुर होने लगी।

पृथ्वीश एकदम चिल्ला पड़ा—बस, बस करो बाईजी ! छिछोरेपन की भी हद रहती है। इस शीतल रक्त को तुषार-शीतल मत करो, उसमें जीवन की एक कम्पन, अग्नि का एक स्फुलिंग, आँधी का उद्दाम, बूँद भर उष्णता आने दो और आने दो जीवन की हरियाली।

बीच में इस रस-भंग से सभा विरक्त हुई।

डाक्टर कमलेश हँसा—अभी महायुद्ध से लौटे हो, तो गरम खून का नशा लगा हुआ है। गान क्या कोई अभिशाप है ? कमलेश उसके वचपन का मित्र था; दोनों साथ-साथ पढ़े, बीच में दीर्घ विच्छेद हो गया। कमलेश जब विलायत पढ़ने गया था, पृथ्वीश तब देश में रहा। और जब कमलेश डाक्टर की लम्बी डिग्री लेकर देश लौटा, तो पृथ्वीश ग्रेटवार में चला गया।

‘नहीं, अभिशाप कैसा ? वह है जीवन का आशीर्वाद। नहीं-नहीं, मैं कहता हूँ, संगीत ही में जीवन बसा हुआ है, और जीने का जो उद्देश्य है, उस सत्य को हम उससे पा सकते हैं।’—पृथ्वीश ने कहा।

जीवन का सत्य ? डाक्टर विचार में पड़ गया। इसी सत्य को तो वह खोजता फिर रहा है—सत्य क्या है, सत्य...सत्य ? बात उसे बड़ी अच्छी लगी। सत्य को वह देखना चाहता है, जानना चाहता है, मनुष्य है ही क्या ? उसकी अविश्वासी आत्मा शायद दुनिया ही को अस्वीकार करना चाहती है।

‘यदि उस सत्य को हम गान से पा सकते हैं तो तुम उसे रोकते क्यों हो ?’—देर के बाद कमलेश ने पूछा।

‘किन्तु इस छिछोरेपन में कहाँ है वह सत्य ? इस लचकती हुई ठुमरी में कुछ गम्भीरता, एकाकी आत्मा की वह चिरन्तन पुकार कहाँ है ? इसका जो एक बाहरी सौन्दर्य है, चंचलता, उच्छ्वलता है, वह है मोह, कि जो एक चंचलता से हमें पागल बना देता है। क्या यही है जीवन और जीवन का उद्देश्य ?’

बाईजी श्रेष्ठा मुसकराईं। इतनी देर के बाद बोलीं ; शान्त धीर स्वर में

वह कहने लगीं—परन्तु इसी मिठास में तो आप लोग डूबे रहना चाहते हैं न ? किसी एक के लिए गम्भीर ख्याल और ध्रुवपद के पुरुष प्रधान को मूर्त करना वातुलता के बिना क्या समझा जा सकता है ?

यह तर्क-वितर्क डाक्टर को, उपस्थित जनता को आकर्षक लग रहा था, वे चुप रहे ।

केवल इस शहर में नहीं, वरन् दूर देशों तक में विदुषी और संगीतज्ञ बाईजी श्रेष्ठा पूरवी का नाम प्रसिद्ध है और यह भी भूठ नहीं है कि वास्तविक कलाकार अपनी कला में दर्शक व श्रोता को समा-सा लेता है । क्यों ? क्योंकि वास्तविक कला का सच्चा गुण, स्वभाव और धर्म यही है ।

‘क्या मैं पूछ सकता हूँ संगीतज्ञ बाईजी से कि प्रेम के समान गम्भीर ख्याल की गम्भीरता में श्रोता को ओत-प्रोत न कर ठुमरी की चंचलता चपलता में, अस्थिरता और बाहरी सौन्दर्य में उसे अधःपतन के निम्न स्तर में क्यों उतारती लिये जा रही हैं ?’—पृथ्वी ने पूरवी से पूछा ।

‘क्या एक मुझ ही पर पृथ्वी की भलाई-बुराई निर्भर है ?’—पूछा पूरवी ने ।

‘है !’—वैसे ही पृथ्वी ने कहा ।

‘है !’—पूरवी के स्वर में विस्मय था ।

‘क्यों नहीं ? तुम भी मनुष्य हो और मनुष्य मात्र शक्ति-प्रकाश का एक-एक केन्द्र-स्वरूप है । आज हम आमोद-प्रमोद में डूबकर पशु-तुल्य हो रहे हैं । शेष केवल नकल और मिठास रह गया है । मैं पूछता हूँ—इस नकली मिठास को लेकर जीने का स्वाँग कब तक चलेगा ?’

‘नकली मिठास ?’ डाक्टर को यह शब्द इतने सुन्दर लगे कि वह कुछ कहना-सुनना भूल गया ।

पूरवी की परिहास-प्रवृत्ति जाग पड़ी । व्यंग से हँसी, फिर बोली, एक हठीली बालिका-सी—जब तक जीवन का अन्त न हो जाय । परन्तु आप ही कहिये महाशय, जीवन है क्या ?

‘जीवन ? जीवन है सत्य, जीवन है सुन्दर, जीवन है शिव ।’

‘यदि वह सत्य है, सुन्दर है तो मृत्यु कैसे हो जाती है ? सत्य की मृत्यु तो है ही नहीं, और मैं उसी सत्य को देखना चाहती हूँ।’

‘जीवन का विनाश नहीं है।’—जोग से पृथीश ने कहा।

‘जीवन का विनाश नहीं है ?’—डाक्टर उच्च स्वर से हँसा। हँसी रुकी तो पूछा—तो मरने को क्या कहते हैं ?

‘मृत्यु। मृत्यु है शरीर का नियम। जीवन शरीर में बसा हुआ है, वस इतना ही। शरीर से जीवन निकल जाता है; किन्तु मौत के वह परे है। जन्म और जन्मान्तर में वह जीवित रहता है।’

‘अफीमची-सी बातें करते हो पृथीश !’—डाक्टर कहने लगा—प्रमाण क्या है ? मैं अपनी आँखों देखना चाहता हूँ कि जीवन जन्मान्तर में जीवित कैसे रहता है।

‘देखनेवाले देखते ही हैं, परन्तु तुम अविश्वासी उसे नहीं देख सकते। उस अन्तहीन परमात्मा की जो अविश्वासी कल्पना तक नहीं कर सकता है उसे वह देख कैसे सकता है ? जीवन तो उसी परमात्मा का अंश है न, और इसलिए वह मृत्यु-हीन है।’

‘तो विश्वासी उसे देख पाता है ?’ डाक्टर के स्वर में व्यंग साकार हो रहा था।

‘हाँ।’

‘फिर यों कहो कि वह वास्तव में देखता कुछ भी नहीं है। जो कुछ वह देखता है, वह केवल अपने विश्वास ही के एक रूप को देखता है। मैं कहता हूँ और जोर के साथ कहता हूँ, अपने इसी विश्वासी मन को लेकर उसे मैं देखूँगा। जानूँगा, मनुष्य क्या है। उसकी नसों के टुकड़े-टुकड़े कर देखूँगा, जीवन किस वस्तु का नाम है। वह केवल हवा है ? नहीं, मैं इसे नहीं मानता। यदि वह वायु है तो उसमें ऐसी शक्ति नहीं है जो वह मेरी मुट्ठी में से निकलकर भागे। मुट्ठी से पीसकर उसकी रग-रग में देखूँगा, क्या है ?’—कमलेश ने कहा।

‘यह तो पागलों का प्रलाप है कमलेश, और तुम क्यों चुप हो गईं पूरबी ?’

पूरवी मिष्ट हँसी। उसके गाल के दोनों ओर गड़हे पड़ गये और उन छोटे गड़हों में हँसने का पूरा माधुर्य बूँद-बूँद कर चूसा पड़ा। बोली वह—आप लोग तो मुझे कुछ कहने का वक्त ही नहीं देते।

‘कहो न भई, मैं चुप हूँ।’—पृथ्वीश ने कहा।

‘और मैं कहती हूँ, जीवन है स्वाँग।’—एक नटखट वालिका-सी पूरवी कह उठी। अपनी बात से वह स्वयं ही खिलखिला पड़ी।

‘परन्तु व्यंग करने का भी समय रहता है।’—विरक्त स्वर से पृथ्वीश ने कहा।

‘व्यंग ? नहीं, मेरे निकट यह व्यंग नहीं है। आप कहते हैं, जीवन सत्य, शिव, सुन्दर है। किन्तु मैं पूछती हूँ—क्या वह मोह, मस्ती, तृष्णा नहीं है?’—पूरवी गम्भीर होना चाह रही थी, किन्तु फिर भी उसके नेत्र परिहास से मचल-से रहे थे।

कमलेश खुशी से उछल पड़ा—ठीक है, ठीक है, शाबास बाईजी !

एक बार वितृष्णा से पृथ्वीश ने उन दोनों को देखा फिर बोला—हाँ, वह तृष्णा है, परन्तु है वह तृष्णा सत्य—सुन्दर की, वीरत्व की; लालसा की नहीं। और मोह तो दुर्बल चित्त की भावना है।

बाईजी खिन्न हँसी—उसी एक सत्य, सुन्दर की, धर्म की भावना ने तो हिन्दुस्तान को गुलामी में जकड़ दिया है महाशय ! जीवन को धर्म का एक स्वाँग-सा बना रखा है। तो क्या यही स्वाँग-सा जीवन सत्य की परिभाषा है ? पृथ्वी में बसे हुए जीवन में से मस्ती, मोह और तृष्णा छँटे ही कैसे जा सकते हैं ? उसी में तो उसकी परिणति है और इसी लिए जीवन जीवन है।

‘भूल है बाईजी, गहरी भूल।’—शान्त स्वर से पृथ्वीश कहने लगा—वह तृष्णा वीरत्व से ओत-प्रोत है। वीरत्व का जन्म है सत्य, सुन्दर और धर्म से। इन वस्तुओं के फैल जाने से आज दिन जीवन एक खेल-सा हो रहा है। मोह से भरा खेल है यह। सोचो तो सही, उस गम्भीर जीवन में इस छिछोरेपन का स्थान कैसे हो सकता है ? ठुमरी मोह को उपजाती है। ख्याल का पुरुष प्रधान वीर-रस से ओत-प्रोत है। हाँ, वह मस्ती है, परन्तु उच्छृङ्खल मस्ती नहीं। वीरत्व और शिव-सुन्दर,—सत्य की मस्ती से मस्ताना रहता है। नारीजनोचित

ठुमरी की आज जरूरत नहीं है। आज प्रयोजन है ख्याल के एकनिष्ठ साधक सत्य—शिव का आज प्रयोजन है। नकली मिठास की जरूरत नहीं है, जरूरत है असली को।

‘परन्तु ख्याल तो उन्हीं सत्य, शिव, सुन्दर के माननेवालों के लिए है, उन्हीं लोगों के लिए जिनने कि जीवन को कुसंस्कारों में बाँधकर दुर्भर कर दिया है और उसी धर्म के कानून में जकड़े बैठे देश को लुटा दिया है। जीवन को क्षीण, दुर्बल, अशक्त—एक बोझ-सा कर रखा है। आज जरूरत है मस्ती की, जीवन को नियत-कानून में जकड़े हुए कन-पुर्ज के सत्मान सम्भरने की नहीं। उसके वास्तविक चेहरे का देखने की जरूरत है आज। मोह, मस्ती, तृष्णा ही है जीवन का सत्य रूप। तो हम ठुमरी क्यों न गायें?’

एक असहिष्णु व्यक्ति चिन्ता पड़ा—आप दोनों ने यह कैसा सड़ा पचड़ा खोल रखा है? मैं कहता हूँ, जिन्दगी न कोई बाघ है, न चीता। न वह धर्म है, न कर्म, न पहाड़ है, न मेदान; न वह चक्षी है, न चूल्हा। है वह एक रङ्गीली खुशी। जब तक जियो, खुशी मनाओ। खाओ, पियो, गाना सुनो, मौज करो, बस। अरे बाबा, ईश्वर के घर जब जाओगे, तब कहीं यदि वह पृष्ठ बैठे कि दुनिया में जाकर तुमने किया क्या? क्या जवाब दोगे भला? यही कहेंगे न कि व्याह के घर जाकर किया बस तर्क। फिर इससे फायदा क्या? वह चिढ़ न जायगा?

‘मैं तो यहीं कहूँगा कि जिन्दगी में मैंने खुशी मनाई, जिन्दगी को मैंने खुशी के भीतर से उपलब्ध किया। बस—वह भी खुश हो जायगा।’

उस व्यक्ति की बातों से सभा उच्च स्वर से हँस पड़ी। और इसके बाद पूरबी ने एक गजल छेड़ दिया।

[२]

अपनी सारी सृष्टि पृथ्वी को लुटाकर उस अर्द्ध रात्रि की प्रकृति भिखारिन-सी हो रही थी।

अभावस्था के गाढ़ अन्धकार में सृष्टि डूब-सी रही थी। चहुँओर गहरी

अन्धेरी और गम्भीर नीरवता । उस नीरवता में केवल पवन था भाषामय और निशाचर जीव थे वाणीमय ।

सन-सन-सन-सन सनसनाता पवन गीत गा रहा था, वृक्षों पर चमगीदड़ फट-फटा रहे थे और पेचक अशुभ चीत्कार से अपनी सत्ता जताने में लगा था ।

उस अन्धकार को चीरते हुए मित्रद्वय चले जा रहे थे । वे दोनों साथ-साथ विवाह-सभा से उठे थे । कमलेश ने अपनी दार माता के लिए विवाह-घर में छोड़ दी थी । पृथीश के पास कार थी नहीं । थोड़े दिन तो हुए ही थे उसे देश लौटे । पृथ्वी में वह अकेला था—बिलकुल अकेला । बैङ्क में यथेष्ट रुपये थे, एक बँगला था । कमलेश के बँगले से कुछ दूर पर । दासी, दाभृत्य, बस ।

और कमलेश ? फिर वह तो धनवान ही ठहरा, एवं स्वयं एक प्रसिद्ध डाक्टर । माता थीं और वह ।

‘समझे पृथीश ?’—पहले जाने क्या बातें हो रही थीं । कमलेश ने कहा—समझे पृथीश ?

‘कुछ-कुछ । याने तुम इस अन्धकार की तह तक पहुँचना चाहते हो, यही न ?’—शायद पृथीश के ओठों पर व्यंग की हँसी थी, किन्तु उस सूची-भेरा अन्धकार में इस बात का निर्णय करना कठिन था ।

‘नहीं नहीं, तुम कुछ नहीं समझे ! तह तक नहीं, इस अन्धकार को मैं छिन्न-भिन्न कर देखना चाहता हूँ, यह है क्या ? और तुम देखना पृथीश, एक दिन इस अन्धकार के काले स्तर किस तरह मेरे पैर के तले बिथर पड़ते हैं । तुम हँसते हो ? किन्तु पृथीश, मनुष्य के असली रूप को देखे बिना मुझे चैन नहीं, इस अन्ध जीवन को मैं पशु का जीवन समझता हूँ ।’

‘याने तुम इस सृष्टि को पैर तले रौंदना चाहते हो ?’

‘शायद ऐसा हो । परन्तु मैं चाहता हूँ पृथ्वी का असली रूप देखना ।’

‘तो तुम परमात्मा के ऊपर भी हुकूमत करना चाहते हो ?’

कमलेश झुंझला पड़ा—‘कैसी आत्मा और कहाँ का परमात्मा ? मैं तो

प्रत्येक का असली रूप देखना चाहता हूँ भाई, और बस। न व्यंग से मुझे कुछ सम्बन्ध, न परिहास से।'

‘शादी के बाद देखना है कि किसका असली रूप तम देखना चाहते हो। देर भी नहीं है, तुम्हारी शादी के कुन पन्द्रह दिन रह गये हैं।’

‘शादी ? नहीं, मा ने उनको नहीं कह दिया है। शादी तो मा के लिए करूँगा पृथीश, उससे मेरा सम्बन्ध कुछ न रहेगा।’

अन्तिम शब्द को पृथीश ने सुना, न सुना, एक अचम्भे से वह पूछ बैठा— मा ने नहीं कह दिया ? परन्तु किस लिए ? वैसी सुन्दर, धनवान की अकेली लड़की, कारण क्या है ? फनदान तक हो गया।

‘सो मा जाने। उसके पिता ने आत्महत्या कर ली थी, सो मैं जानता हूँ।’

‘आत्महत्या ! चक्रवर्ती महाशय को अभाव तो कुछ था नहीं।’

‘तुमने कुछ सुना नहीं पृथीश ?’

‘नहीं।’

‘सुना है, इन दिनों वह घुड़दौड़ में रुपया हारा करते थे। और धीरे-धीरे नक़द रुपये हारकर पीछे उन्होंने जमीन-जगह, घर-मकान सब बाजी पर रख दिया था, हारने का तार जिस दिन आया, उसी दिन उन्होंने आत्महत्या कर ली।’

‘अब समझा। और इसी लिए एक विपत्ति की मारी, पितृहीन, निर्धन लड़की तुम्हारे घर नहीं आ सकती, परन्तु तुम्हें तो धन का अभाव नहीं है कमल !’

‘समझे नहीं तुम, माताजी का कहना है—आत्मघाती की लड़की मेरे घर नहीं आ सकती।’

‘और तुम्हारा ?’

‘मेरा ? परन्तु मुझसे सम्बन्ध ? केवल मा के लिए शादी करनी है।’

‘चलो—बात ही निपटी, और उस वाग्दान की लड़की का क्या होगा, विशेषकर ऐसी असहाय अवस्था में ?’

‘सो मैं क्या जानूँ ।’

‘तुम नहीं जानते ? और इसी मन को लेकर तुम सत्य को पाओगे ? वास्तविक को पैर तले रौंदकर तुम मिथ्या को अपना रहे हो, और वही तुम जीवन का सच्चा रूप देखना चाहते हो ?’

कमलेश चुप रहा—कुछ विचारने लगा वह ।

‘तो मैं चलता हूँ !’ पृथीश ने कहा ।

‘सुनो तो ।’

‘मुझे देर हो रही है ।’—उत्तर-प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह चल पड़ा ।

अपनी धुन में मस्त कमलेश उस अन्धकार में आँखें गड़ाये चलने लगा ।

कमलेश चला और चला ही जाता, किन्तु ठीक उसी समय वह एक दूसरे व्यक्ति से टकरा गया । पथ के दूसरी ओर से जो दौड़ता हुआ आ रहा था वह गिरने से बचा । उसके चीत्कार से कमलेश समझा—वह स्त्री है ।

‘हँ !...हँ !’ हाथों के सहारे कमलेश ने उसे रोका ।

स्त्री जरा संभली न संभली, उसके पैरों से लिपट गई—एक डाक्टर की मुझे जरूरत है, मा मर रही है ।

‘कहाँ जा रही थीं ?—कमलेश ने पूछा ।

‘डाक्टर का घर मुझे मालूम नहीं । बतला दो ।’

‘नहीं मालूम ? तो किसके लिए भागी जा रही थीं ?’

‘सो मैं नहीं जानती ।’

विस्मय से कमलेश ने उस ओर देखा, किन्तु अन्धकार के सिवा कुछ देख न पाया, कहा—अच्छा चलो, मैं चलता हूँ ।

‘आप ? क्या आप डाक्टर हैं !’—स्त्री आश्वस्त स्वर से कहने लगी—तो जल्दी चलो । डाक्टर ही हों न ?

‘ऐसा तो लोग कहते हैं ।’

‘ऐसा कहते हैं ? और आप नहीं जानते ।’—अत्यन्त विस्मय से स्त्री ने कहा । कमलेश के उन्मादी होने का उसे सन्देह हो रहा था ।

अनमने-से कमलेश ने उत्तर दिया—नहीं। चलो, कहाँ चलना है ?
ऐसे दुख में भी एक विस्मय लिये खी डरती हुई उसके साथ हो ली।

[३]

दरिद्र पत्नी। छोटे-छोटे टीन के घर। अधीर गति से खी उन एक में प्रवेश कर बोली—

‘आइये, जल्दी-जल्दी चले आइये।’

घर के भीतर क्षीण प्रकाश हो रहा था। भू-शय्या पर एक खी पड़ी थी। थोड़े-से कपड़े एक काने में रखे थे। बासन-भाँडे का नाम भी नहीं। जल का घड़ा, एक गिलास, लोटा, भुने हुए चने, लाई, मुरमुरे घर में बिखरे हुए पड़े थे, और बस।

घर में प्रवेश कर कमलेश रोगी देखना भूल गया। एक अचम्भे से चहुँ-ओर देखने लगा।

‘मा...मा...मा।’—लड़की पुकारने लगी। बड़े कष्ट से रोगिनी ने आँख खोली।

‘अब तुम अच्छी हो जाओगी मा ! डाक्टर आये हैं।’

कमलेश कुछ सचेत-सा हुआ। ‘बबराओ नहीं’—बोला वह। और रोगिनी को देखने के लिए झुका। रुग्णा ने डाक्टर को देखा और उसी पल उसके नेत्र भय, व्यथा, घृणा से विस्फारित हुए।

‘मेरे मरते वक्त यह किसे लिवा लाई है तू सविता ?’—हाँफते-हाँफते वह कह चली—हटो-हटो, दूर हो, तुम्हें देखना नहीं चाहती, दूर...दूर हो। एक आर्त चीत्कार, उसके बाद खी एकदम नीरव हो गई।

कमलेश ने अपना कर्तव्य पूरा किया। खी की साँस रही हो चाहे न रही हो ; घुमा-फिराकर डाक्टर उसका नवज देखने लगा।

विस्मय का एक घना धक्का सविता को लगा, फिर वह माता से लिपट-कर फूट-फूटकर रोने लगी।

कुछ देर तक कमलेश इस दृश्य को देखता रहा।

देर के बाद कमलेश ने सविता को माता से अलग किया। कहा—उस मुर्दे से लिपटकर क्या करोगी ? उनकी मृत्यु हो गई।

सविता एकदम चुप हो गई ; यह निर्दयी डाक्टर कह क्या रहा है ? पिता को मरे अभी महीना भर तो हुए ही हैं और अभी-अभी मा की मृत्यु ? मृत्यु हो गई ? तो यह डाक्टर आया किस लिए था यहाँ पर ? जो मृत्यु धीरे-धीरे आ रही थी और अन्त तक उसकी असहाय अवस्था देखकर शायद माता को उसके लिए छोड़कर लौट भी जाती, लौट जाती—जैसे आती वैसे ही धीरे लौट जाती, उसी अनिश्चित मृत्यु को निश्चित करने के लिए यह व्यक्ति आया था क्या ? माता विकार में थीं ? कदाचित्त ऐसा हो। परन्तु निमित्त का भागी यही व्यक्ति है न ? इसे देखकर माता के नेत्र में घृणा, व्यथा, भय का अपूर्व समावेश हुआ था न ? तो क्या वह स्वयं गहरी रात के छोर से यम को पुकारकर ले आई ? पल-पल में यह विचार मन में उठे और भय से सविता काँप उठी। रोना वह भूल गई, विराग, वितृष्णा से हटकर खड़ी हो गई।

रात बढ़ने लगी, उस नीरव रात्रि के सन्नाटे में पृथ्वी के अणु-परमाणु में एक व्यङ्ग की मुसकान मुसकराने लगी और कमलेश-सविता एक-दूसरे के सामने खड़े रह गये।

कमलेश चलते-चलते लौटा—मैं जा रहा हूँ।

सविता नींद से जागी-सी—जाते हो, और मुझे अकेली छोड़कर ?

एक अपरिचित स्त्री के मुँह से इस अधिकार-पूर्ण प्रश्न को सुनकर कमलेश स्तब्ध रह गया। विचार तक न पाया कि कौन-सी ऐसी स्थिति है, जो कि अपरिचित की परिधि को पार कर इस जिज्ञासा के अधिकार को दे सकी है। परिहास से कमलेश का श्वास मचलने लग गया। उसे प्रबल इच्छा होने लगी कि चिल्लाकर कहे—तुम चाहे कहीं रहो, मरो या जियो, मुझसे मतलब ? मैं तो एक डाक्टर हूँ, बिना फीस के आ गया इतना बहुत है।

किन्तु फिर भी न जाने क्यों वह चुप रह गया—जनम का बहरा, गूँगा-सा।

और सविता ? वह उसके निकट आकर खड़ी हो गई। यद्यपि उसके नेत्र में इस व्यक्ति के लिए भय और घृणा थी, किन्तु फिर भी वह चली ही आई और अनायास उसका एक हाथ पकड़कर बोली—अकेली स्त्री मैं यहाँ कैसे रहूँगी ?

‘नहीं रह सकोगी ? तो मेरे घर चली चलो ।’—एक कौतुक से कमलेश कह उठा ।

‘तुम्हारे घर ?’

‘हाँ, मेरे घर ।’

‘वहाँ मैं रह सकती हूँ ?’

इस विचित्र प्रश्न को सुनकर कमलेश चकराया-सा उसका मुँह निहारने लग गया—आखिर यह स्त्री चाहती क्या है ?

देर के बाद वह बोला—क्यों नहीं रह सकोगी, हम लोग भी तो हैं न उस घर में । उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या जवाब दे ।

‘अच्छी बात है ।’—आश्चर्य से कमलेश ने कहा ।

‘देर क्यों कर रही हो ? चलो ।’

‘और मा ?’

‘अरे भाई, इस मुर्दे को लादकर ले जाना पड़ेगा क्या ?’—आन्त स्वर में कमलेश ने कहा । वह इस विचित्र स्त्री से थक-सा गया था ।

‘किन्तु मा को छोड़कर मैं जाऊँ कैसे ?’

‘इसके लिए मैं क्या करूँ ? मुर्दे का बोझ मैं नहीं ढो सकता ?’—डाक्टर झुंझला पड़ा ।

‘मा को मैं यहीं छोड़ जाऊँ ? आप कहते क्या हैं ?’

‘आखिर तुम चाहती क्या हो ?’—हताश भाव से कमलेश वहीं पर बैठ गया ।

सहमकर सविता ने कहा—माताजी का दाह करना है, मेरी अभागिनी मा, जिनके घर एक दिन हजारों दीन, दुखी पलते थे, वे ही आज दवा, पथ्य के बिना भोपड़े में मर गई । मा-मा—मेरी मा, राजरानी मा मेरी, मरीं तुम

मेरे ही लिए। घण्टे भर पहले तक वह बोली थीं, बोली थीं। कहते-कहते सविता सिसक-सिसककर रोने लगी। और विरक्त, क्लान्त, विस्मय-स्तब्ध डाक्टर उसके चुप होने की प्रतीक्षा करने लगा।

[४]

प्रातः के रजत-शुभ्र मुहूर्त में एक सरस्वती की-सी श्री से कमलेश का गृह-प्रांगण आलोकित हो रहा था। और उस शान्त, स्निग्ध श्री के सामने कमलेश की माता सत्यभामा हतवाक् थीं—रोमाञ्चित, प्रभावित।

उन्हें लग रहा था, पद्मवन से स्वयं सरस्वती उनके घर भूल पड़ी हैं। वैसे ही घने पल्लवों से घिरे सुन्दरतर नयन और उन आयत नेत्रों की वैसे ही बुद्धि-विकीर्ण स्निग्ध दृष्टि, शिल्पी की सूक्ष्म तूलिका से खींची-सी सुदीर्घ भ्रू, गुलाब की पेंखुड़ी जैसे कपोल। सुदृश्य नासिका। घने, लम्बे, रूखे केश, हाथ में काँच की लाल चूड़ियाँ। कान, गला सूना।

सरस्वती? हाँ—हाँ; सरस्वती। सरस्वती-प्रतिमा के अङ्ग-प्रत्यङ्ग, आकृति तो ठीक ऐसी ही बीणा-सी मीठी हुआ करती है न! परन्तु बीणा? कदाचित् पद्मवन में बिसर आई होंगी। सत्यभामा ने पल-पल में विचारा।

भाव-तन्मय स्वर से सत्यभामा ने लड़के से पूछा—सरस्वती को तू कहाँ से उठा लाया?

‘सरस्वती? तुम भूल करती हो मा! इसका नाम सविता है।’

‘सविता है?’—गृहिणी कुछ सहमीं-सी—इसे कहाँ से लाया?

‘टीन के घर से। कल रात में इसकी मा मर गईं। गरीब की लड़की हैं और अकेली है।’

‘दरिद्र है।’—पल-पल में गृहिणी के मुख-भाव का परिवर्तन हो गया।

श्रद्धा-सम्मान का स्थान अवहेलना ने अधिकृत कर लिया। और उस अवहेलना को देखकर सविता का मन अपमान से भर उठा। दरिद्र-कुटीर से वह आई अवश्य थी, परन्तु मन तो उसका दरिद्र नहीं था न। दरिद्रता में पिस-कर भी मन पर उसके रह गई थी धन की छाप।

ताच्छल्य से सविता ने एक बार चहुँओर देखा—यह वैभव, यह इने-

गिने दास-दासी ? अरे दो ही महीने तो हुए होंगे, इससे कहीं चतुर्गुण अधिक वैभव के भीतर वह रहती थी । उसके पिता के समान धन-सम्पद इस शहर में था ही किसका ? पिता की बात के स्मरण से हृदय हाकाकार कर उठा । साथ ही रात की बात याद आ गई । अभी कल ही तो मा—उसकी मा ?... सविता रो पड़ी, फूट-फूटकर रोने लगी ।

विरक्ति, विराग से सत्यभामा ने कहा—उठ, भुनसारे रोना, राम, राम ! यह कहाँ का कुनक्षण उठा लाया है । कमलेश ?

माता को और उस रोती हुई लड़की को कुछ कहना है, इतना तो कमलेश जानता था, परन्तु यह नहीं जानता था कि वह कहनेवाले शब्द क्या हो सकते हैं । एक असमंजस में पड़ा कमलेश दोनों का मुँह निहारने लगा ।

उधर माता कह चली—नहीं बाबा, यह सब मेरे घर नहीं हो पायगा । एक बच्चा लेकर घर करती हूँ । सवेरे से रोना और रोना । ले जा इसे कमल, जहाँ से लाया है वहीं पटक आ । इस बार बोला कमलेश, बोलने के लिए उसे एक अवलम्बन-सा मिल गया—वहाँ ? परन्तु वहाँ यह कैसे रह सकेगी ?

‘क्यों ?’—मा ने पूछा ।

‘वहाँ इसका है ही कौन ?’

‘तो यहीं इसका कौन बैठा है ? तीन कुल में कोई नहीं, ऐसी को मैं क्यों रखूँ ? जाने किस भङ्गी-चमार की लड़की है । इसे मैं नहीं रख सकती ।’

सविता बिलकुल चुप हो गई । मान-अपमान, छोटे-बड़े का, अत्म-मर्यादा का, शोक-विच्छेद का विचार मन से जाता रहा । रह गया मात्र एक अकेलापन । उस अकेलेपन को देखकर वह रोमाञ्चित हो गई । बाप रे, ऐसी बड़ी पृथ्वी में वह छोड़ दी जायगी और बिलकुल अकेली छोड़ दी जायेगी । तो वह जायगी कहाँ ? उस अकेलेपन में घुलकर उसका शोक, दुःख, सम्मान सब एकाकार हो गया, रही केवल अकेलेपन की विभीषिका । जिस पृथ्वी से उसकी जान-पहचान नहीं है, उस पृथ्वी में वह अकेली छोड़ दी जायगी । फिर वहाँ उसका श्वास रुक न जायेगा ? माता-पिता की स्नेह-छाया में, घर के कोने में रहती थी । दास-दासी के लाड़-प्यार से पत्नी, मणि-मुक्ता पहनने-

वाली लड़की क्या जाने पृथ्वी को। स्कूल, कालेज ? नहीं, कुछ नहीं। घर में मास्टर लगे थे। कुछ पढ़ लिया करती, थोड़ी-सी सज्जीत-चर्चा कभी कर लेती। माता के साथ बिरादरी में चली जाती। मोटर पर दासी के साथ घूमती। बस।

भय-शंका से सविता काँपने लगी।

‘इसे छोड़ आ कमल !’

छोड़ आ ?—तो इस हिमालय पर्वत-सी पृथ्वी में वह अकेली छोड़ दी जायेगी ? वहाँ हजारों अजगर उसे निगलने दौड़ेंगे, रीछ के पैने दाँत उसे चीरकर टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे। बचानेवाला कोई न रहेगा। अकेली रहेगी वह, बिलकुल अकेली। वह अकेलापन एक विकराल दैत्य-सा उसे निगलने दौड़ा। सविता कम्पित देह-मन से गृहिणी के पैरों से लिपट गई—मैं कहीं न जाऊँगी, अकेली मैं कहाँ जाऊँ ?

चकराई-सी सत्यभामा ने उसे उठाया—न जाओगी ?

‘नहीं, कहीं न जाऊँगी।’

‘अच्छी जबरदस्ती है।’—गृहिणी भुनभुनाने लगीं। परन्तु फिर भी जाने क्यों पूछा—कौन जाति की हो ? भंगिन-चमारिन-सी तो नहीं लगतीं।

‘कायस्थ हूँ अम्मा।’

‘कायस्थ हूँ ? हम भी कायस्थ हैं। तो रह यहीं। किन्तु हाँ, यहाँ रोना-पीटना न हो सकेगा।’

सविता के नेत्र छलछला आये, मन विद्रोही बनने लगा और दूसरे पल अकेलापन की भीति उसे सम्पूर्ण ग्रास कर बैठी। जिस भय ने उसकी स्वाधीन आत्मा तक पर अपना प्रभाव व्याप लिया।

भीरु पक्षी-सी वह कह उठी—मैं रोऊँगी भी नहीं अम्मा।

‘अच्छा-अच्छा।’—सत्यभामा कहने लगीं—ऐसा ही तो चाहिये। मा-बाप किसके सब दिन जीते हैं ? चलो, नहा डालो, अभी तुम सूतक में हो। बारह दिन तक घर का कुछ छुना-छाना नहीं, समझीं न सुरसती ?

‘कैसी भूलती हो मा, उसका नाम सविता है।’—कमलेश हँस रहा था।

मुँह बिचकाकर मा बोली—सुन लिया, सविता भी कोई नाम है? वह नाम इसे सोहता नहीं है। ऐसी अच्छी लड़की, जाने इसका भाग्य कैसा है! इस सहानुभूति से सविता के आँसू फिर उमड़ पड़े। उसने मुँह फेर लिया।

[५]

रात्रि के निरालेपन में खुली खिड़की के सामने बैठी थी सविता। नेत्रों से आँसू की धारा बह चली थी। द्वार भीतर से बन्द कर लिया था। आकाश में तारे छिटक रहे थे। तृतीया के चन्द्रमा का था मन्द प्रकाश।

यहाँ रहते हुए उसे पन्द्रह-बीस दिन निकल गये थे। किन्तु फिर भी वह उन लोगों से हिल-भिल नहीं सक रही थी। सत्यभामा उससे सद्य व्यवहार करती। दास-दासी उस पर स्नेह करते। कभी डाक्टर भी उसे अनमना-सा देख लेता, किसी दिन बातें भी करता। सुन्दर, सज्जित कमरे में वह रहती, अच्छे वस्त्र, भोजन, सब व्यवस्था अच्छी थी। किन्तु फिर भी उसका हृदय शोक, दुःख में भीतर ही भीतर पिसता रहता। अपने कमरे का सोना उसे अच्छा लगता। अधिकांश समय पक्षी-शावक की तरह वह उसी कोने में दबकी रहती।

दृष्टि आकाश पर निबद्ध किये सविता उस उज्ज्वल तारे को देख रही थी।

कहाँ था यह तारा अब तक?—विचारने लगी सविता—नहीं था यह तारा आकाश में। अभी-अभी तो यह तारा आकाश के हृदय में बसने लग गया है। फिर यह? हाँ, हाँ, मा ही तारा है—उसकी मा, मा, उसकी मा—है। उसी की मा, जरूर वही है। देखते नहीं—पृथ्वी की निशुथी में खिड़की के सामने आकर उसे देख रही हैं?

केवल उसी को वह देखेंगी। और देखती ही रहेंगी। और पिता? वह भी निश्चय वहीं हैं। कहाँ? वह जो बैठे हैं, बैठे-बैठे उसे निहार रहे हैं।

‘मुझे बुला ले मा!’—आकुल-आग्रह से दोनों बाँहें बढ़ाये वह खिड़की के सामने खड़ी हो गई। फूट-फूटकर, सिसक-सिसकर रोने लगी—बुला ले मेरी अम्मा, मुझे बुला ले। तुम्हारे साथ आकाश के एक ओर बैठी मैं इस

अनजान पृथ्वी को पहचाना करूँगी, देखा करूँगी। पृथ्वी पर छाया किये मैं भी उसके सुख-दुःख में रोया करूँगी, हँसा करूँगी। अपने छोटे हृदय पर छोटा दीवट उजियारे मैं भी रात-रानी को आरती उतारा करूँगी। सविता विकल होकर रोने लगी। वह पक्षी-सी चाहने लगी उड़कर आकाश तले पहुँच जाना। वाष्प-रूप में चाहने लगी, तारों में समा जाय, वायु बन जाय।

बाहर कुछ आहट हुई। उस शब्द से सविता एकदम चौंक पड़ी—कोई बाहर खड़ा मेरा रोना तो नहीं सुन रहा है ? यह विचार उसके मन पर व्याप गया। पल भर में आँसू आँखों में समा गये। विवर्ण, भीत सविता डरती, काँपती पलंग के नीचे छिपने लगी ; खरगोश की तरह तकिये के भीतर मुँह छिपाकर वह थर-थर काँपने लगी।

तृतीया का चाँद कब आकाश तले मेघ के नीचे छिप रहा इसकी खबर उसे कुछ न लगी। घर अन्धकारमय हो गया। अपनी तारा मा को देखने के लिए सविता का हृदय व्याकुल होने लगा। परन्तु फिर भी वह जा न सकी। उस ओर देख नहीं सक रही थी। आँखें खोल भी नहीं सकती थी। तकिये से वह चिपकी रह गई।

उसके रुद्ध नेत्रों के भीतर सहस्र बाँह बढ़ाये एक प्रकांड दैत्य उस आश्रय से उसे छीन लेने के लिए भृकुटी चढ़ाये खड़ा हो गया। सविता को लगा, उसका रोना गृध्रासियों ने जान लिया। और इसके बाद सविता के कम्पित श्वास में असंख्य विकराल हाथों की सृष्टि हो गई, जिसके सामने उसकी साँस रुकने लग गई। आँखें अपने-आप खुल गईं। वह आँखें फाड़-फाड़कर चहुँओर देखने लगी। उसे लगा अभी-अभी यह अन्धकार उसे जकड़ लेगा, और रुदन के दण्ड-स्वरूप उसे पृथ्वी-व्यापी काले अजगर के मुँह में छोड़ देगा। बस। एक क्षीण चीत्कार, उसके बाद सविता की सुध जाती रही।

घड़ी में चार की घंटी बोल उठी। उस शब्द से सविता की चेतना कुछ लौटी। मुर्गे, कागों ने प्रभात-वेला की सूचना दी। सविता ने चहुँओर देखा। कमरे में अन्धकार नहीं था। अपना घर उसे स्मरण हो आया। कैसी सुखी थी वह। बस वे तीन प्राणी, अनेक दासी-चाकर। वृहत् अट्टालिका पर, मणि-

मुक्ता-भूषित, आदर-स्नेह से पत्नी वह । प्रातः से सन्ध्या तक हँसी-खुशी में मग्न रहती । उसे कभी क्या थी ? हीरामन, मैना, बुलबुल, लाल मुनइयाँ, बिल्ली, कुत्ते, मोर, हिरन पले हुए थे । दिन भर वह उन सबसे खेला करती, कभी चारा-दाना उन्हें चुगाती । उसके पिता का बड़ा कारबार था ।

इसके बाद उसके घर में खुशी की नदी उमड़-सी पड़ी । स्वप्न में रँगी-सी स्वप्नमयी लड़की । उसने अपने भावी पति के रूप-यौवन, शिक्षा, सम्पद के विषय में अनेक बातें दासी-चाकर के मुँह से सुनी थीं । शहर के किसी अमीर से शादी पक्की हो गई थी । और उनका चित्र भी तो आया था न ? हाँ वही तो था, जिस चित्र को देख-देखकर माता गर्व, आनन्द से फूली न समाती थीं । उसने ? नहीं, वह उनका चित्र कहाँ देख पाई ? उसका जी चाहता था और बहुत चाहता रहा केवल एक बार उस चित्र को देखने के लिए ; परन्तु देख न पाई ।

और उस फलदान के दिन ? उस दिन कैसे सुन्दर वस्त्र-भूषण उसे पहनाये गये थे । रानी बनी थी वह—रानी । फिर तब बहुत-से लोग आये थे । उसके भावी पति के घर से । घर में हजारों व्यक्तियों की पंगत बैठी थी । द्वार पर शहनाई बजी थी ; उस खुशी के भीतर उसका फलदान हो गया था । वह किसी की ओर आँख उठाकर नहीं देख सकी थी, लज्जा से सिमट रही थी । आधा विवाह तो उसी दिन उसका हो गया था । तब से न जाने कैसी-कैसी कल्पनाओं में वह मस्त रहा करती । कभी मौर बाँधे एक सुन्दर पुरुष उसके द्वार पर आकर खड़ा हो जाता और कभी माता की गोद में वह बैठ जाती । कल्पना का इन्द्रजाल इस भाँति पुष्पित होता रहता ।

अचानक एक दिन वह अशुभ घड़ी उपस्थित हो गई । माता हो गई उदास, पिता ने अपने को एक कमरे में रुद्ध कर लिया । और बाहर घण्टी बजी । नौकर तार लिये दौड़ा आया । बस, वही तार काल बनकर आ गया । दूसरे दिन प्रातःकाल से घर में रोना-पीटना मच गया । और वह विस्मित जब पिता के कमरे में दौड़ी-दौड़ी गई, तो वहाँ पाई उसने डाक्टरों की भीड़, पिता का शव और चेतना-हीन माता को ।

सप्ताह भी न कटने पाया था कि घर-द्वार नीलाम हो गया, फिर भी पिता का ऋण न चुक सका। लोग कहते थे, घुड़दौल में उसके पिता सब हार गये। पीछे ऋण लेकर बाजी लगाया करते थे। तार में उनके दिवालिया होने की खबर थी। पुरानी दासी बोली—उन्होंने आत्महत्या कर ली।

और उसके बाद ? उसके बाद घर का समान, जेवर, बर्तन तक बेचकर माता ने कर्ज चुकाया। अन्त में उसका हाथ पकड़े एक टीन की गन्दी भोपड़ी में चली गई थीं। फिर भी शायद माता जीवित रहतीं, परन्तु उसके भावी पति-घर के दारुण सन्देश ने उन्हें जीने न दिया। वहाँ से खबर आई कि उस जैसी दरिद्र लड़की उनके घर की वधू नहीं बन सकती। बस, माता जो धरती पर गिरीं, तो फिर न उठीं। तीन दिन यों ही बीते, चौथे दिन वह भागी-भागी बाहर गई और डाक्टर कमलेश को लिवा आई। पैसे के चने चबाकर वह तीन दिन रही। सो भी पूरे कहाँ खाये गये थे। सविता और सोच न सकी। मा के लिए उसका जी रोने लगा। कमर में साड़ी का छोर लिपटा रहा, देह पर कुछ नहीं, इधर उसका ध्यान न गया। वह अधीर चरणों से खिड़की पर खड़ी हो गई—अपनी तारा-मा को देखने के लिए।

[६]

‘आज आपके साथी नहीं हैं कमलेश बाबू ?’—बाईजी पूरवी ने पूछा।

शराब का ग्लास खाली कर कमलेश ने कहा—किसे पूछ रही हो ?

कमलेश के मित्र नीलाम्बर की उद्यान-वाटिका में पार्टी थी। शहर के धनी-मानी, चुने हुए सज्जन आये थे। साज-पोशाक के साथ अपना राज-राजेश्वरी-रूप विकीर्ण करती बाईजी पूरवी मध्य में बैठी थीं। शराब की बोतलें खाली होती जाती थीं। श्वेत वस्त्र पहने अरदली, खानसामे टूटे थामे खड़े थे। किसी टूटे पर शराब के ग्लास तो किसी पर सोड़ा आदि रखे थे। कमरे में मोटा गलीचा बिछा हुआ था, मखमल के मोटे तकिये। बिजली का उज्ज्वल प्रकाश था। बीच में बड़ा-सा भाड़ लटक रहा था, जिसमें पन्द्रह बिजली के बल्ब जल रहे थे। गुलदस्तों में फूल चुने हुए थे। बाहर के बगीचे में पेड़ों के नीचे टेबल, कुर्सियाँ यहाँ-वहाँ रखी हुई थीं। पेड़-पत्तियों में जाने

कितने ही बल्व जल रहे थे। भृत्यवर्ग छोटी-बड़ी प्लेटों में भोजन सामग्री रख रहे थे।

बाईजी को भी भोजन का निमन्त्रण था, यों तो आज उनका यहाँ पर मुजरा ही था। भोजन के बाद नाच-गान की ठहरी।

कमलेश के प्रश्न से पूरवी ज़रा-सा हँसी—

‘उन्हीं साधूजी को पूछ रही थी।’

‘परन्तु मेरे तो एक भी साधु मित्र नहीं हैं बाईजी।’

‘हैं न। अच्छा-सा नाम है उनका। भूल गई। वही जो ग्रेट वार से लौटे हैं।’

‘कौन कमल?’—पूछा नीलाम्बर ने।

कमलेश हँस पड़ा—‘पृथीश को पूछ रही हैं।’

‘हम सब सेवक देखते ही रह गये, और अन्त में मन में बस गया वह रस-हीन, गुँवार पृथीश?’—तरल स्वर से नीलाम्बर ने कहा।

‘यदि ऐसा हो भी, तो हानि क्या है?’—पूरवी हलकी खुशी से कह उठी।

‘मैं कब कहता हूँ कि हानि है? घबराओ नहीं, वह आता होगा। उसका पेट कहीं किसी पार्टी को मिस कर सकता है?’—नीलाम्बर ने कहा।

‘क्या वह पेट है?’—पूरवी के प्रश्न में शायद आग्रह रहा हो। नीलाम्बर परिहास करने से न चूका—कह न रहा था कि पूरवी, तुम रीझ गईं।

‘शायद ऐसा हो। किन्तु गान तो मैं सबको एक ही-सा सुनाती हूँ महाशय। और जब तक जी चाहेगा, सुनाती रहूँगी। यदि मेरे रीझने का कोई मूल्य रहता हो तो मैं उसे गीत से चुकाती जाती हूँ। इसके सिवा मेरे पास है ही क्या?’—शान्त स्वर से पूरवी बोली।

कमलेश स्तब्ध हो गया। इस तरह से परिष्कार देना और मुँह पर! न कहीं पर्दा, न रुकावट, बिल्कुल साफ-साफ कह देना उसे अच्छा लगा। पूरवी से उसका परिचय अधिक दिन का नहीं था। नहीं, वरन् उसने पूरवी को पार्टी आदि में पाँच-छः बार देखा था, बस। वह शराब पीता जरूर था; किन्तु कभी वेश्यालय में गया नहीं। और न इसकी भावना उसके मन में थी।

पृथ्वीश पहुँच गया। सादर सम्बर्द्धना कर नीलाम्बर बोला—मैं कह न रहा था पूरवी, कि मेरा पेटू मित्र पहुँचता ही होगा।

‘तो मेरी चर्चा हो चुकी है? सौभाग्य, सौभाग्य।’—प्रसन्न हँसी से पृथ्वीश का मुँह उज्ज्वल हो उठा।

‘बाईजी तुम्हारे लिए उद्विग्न हो रही थीं पृथ्वीश।’—नीलाम्बर बोला।

‘मेरे लिए? बड़ा भाग्य!’

‘सो तो है ही पृथ्वीश।’—मित्रगण हँस रहे थे।

पृथ्वीश ने बात समझी न समझी, वह कहने लगा—पेटू मैं हूँ बाईजी। नीलाम्बर से तुमने सुन लिया होगा। विशेषकर महायुद्ध में बासी चीजें और मांस खाते-खाते ऊब गया। इङ्गलिश डिशों से मैं साग-भाजी अधिक रुचि से खाता हूँ। विश्वास न हो तो आप अपने घर मुझे भोजन कराकर देख लें। परन्तु पीछे कहना नहीं कि आज मुझे भूखी रहना पड़ा। इस आदमी का भोजन पृथ्वीश अकेला खा गया।

‘आप मेरे घर भोजन करेंगे पृथ्वीश बाबू?’—पूरवी ने पूछा।

‘क्यों नहीं? यदि आप कहें तो कल पहुँच जाऊँ।’

‘मेरे हाथ का बनाया भोजन करेंगे आप?’—जरा इतस्ततः कर पूरवी ने पूछा।

‘क्यों?’

‘इसलिए पूछ रही हूँ, किसी के धर्म को मैं बिगाड़ना नहीं चाहती।’

पृथ्वीश जोर से हँसा—घबराइये नहीं। लूआकृत से मेरे उस महान् धर्म की जरा भी हानि न होगी। समझीं न पूरवी!

‘ऐसा। तो कल मेरा निमन्त्रण स्वीकार कर रहे हैं न?’

‘धन्यवाद! किन्तु जरा सोच-विचारकर मुझे बुलाना बाईजी।’

बाईजी के नेत्रों में स्नेह की छाया पड़ गई। उसने पृथ्वीश की ओर देखा, फिर बोली—किन्तु इस तरह से डरा-धमकाकर आप मेरे घर अपना आना नहीं रोक सकेंगे पृथ्वीश बाबू, सो मैं पहले से कह देती हूँ। और यह भी कहती हूँ कि कल आपको आना ही पड़ेगा। भूलने से न चलेगा।

‘कहो बाईजी, कल गीत के बदले कौन-सी चीज पृथीश से लेने का विचार है ?’—व्यंग से कहा नीलाम्बर ने ।

‘बहुत बड़ी चीज नीलाम्बर बाबू !’—परिहास से पूरवी मचल-सी पड़ी ।

‘वह ऐसी कौन-सी वस्तु है पूरवी, क्या हम उसे सुन नहीं सकते ?’

‘क्यों नहीं । कल मुझे मिलेगा थोड़ा-सा सन्तोष—वही सन्तोष, जो कि एक के तृप्ति-पूर्ण भोजन से नारी को मिला करता है ।’

‘और बदले में तुम क्या दोगी पूरवी ?’—नीलाम्बर ने पूछा ।

‘उनके पास तो कुछ है ही नहीं फिर वह देंगी क्या ?’—कमलेश ने कहा ।

एक कौतुक से पृथीश सबका मुँह निहारने लगा ।

पूरवी क्लिष्ट हँसी ।

‘सच कहना पूरवी, क्या गान के सिवा तुम्हारे पास और कुछ नहीं है ?’—नीलाम्बर ने पूछा ।

पूरवी खिलखिला पड़ी—और उसी को जानने के लिए आप लोग अधीर हो रहे हैं ? और इन्हीं सबके लिए उस दिन पृथीश बाबू मुझे खयाल न गाने का अनुरोध कर रहे थे ?

इस गविता वेश्या के प्रति सभा विस्मय से देखने लगी । कमलेश के मुँह की हँसी पर घड़ों पानी गिर पड़ा और पृथीश ने मुँह फेर लिया ।

शराब भरे ग्लास लिये द्वाय वहाँ पहुँच गया । पृथीश को छोड़कर बाकी सब सज्जनों ने एक-एक ग्लास उठा लिया ।

एक महाशय ने पूरवी की ओर ग्लास बढ़ाया ।

नीलाम्बर ने टोंका—वह नहीं पीती । लाओ, मुझे दे दो ।

‘यह कैसे हो सकता है ? थोड़ा पी लो बाईजी ।’—व्यक्ति बार-बार अनुरोध करने लगा ।

‘नहीं महाशय, क्षमा करें । शराब मैं नहीं पीती ।’

‘कभी नहीं पीती ?’—पृथीश ने पूछा ।

कमलेश ने फिर भी दो-दस बार पूरवी को देख लिया था, परन्तु पृथीश उसे द्वितीय बार ही देख रहा था ।

‘नहीं पी, पृथीश बाबू !’

पृथीश चुप हो रहा ।

व्यक्ति ने कहा—ऐसा ! परन्तु क्यों ? क्या शराब से घृणा है ?

‘घृणा ? नहीं तो ।’—वह बोली ।

‘फिर ?’

‘अच्छा नहीं लगता, नहीं पीती । हाँ, गाना सुनाऊँ ?’

पृथीश चंचल होने लगा—पहले भोजन कर लो ।

‘और उसके बाद तुम भागो । बात यही न है पृथ्वी ?’—नीलाम्बर ने कहा ।

‘हाँ भाई । ठुमरी सुनने से घर में सोना दसगुना अच्छा है । मुझे गाना-वाना अच्छा नहीं लगता ।’

‘लेकिन पृथीश बाबू, बाईजी का गान एक ऐसी चीज है कि मुझे तक को जिन्दा कर देती है । आप भी अजीब हैं, ऐसी चीज से आपको नफरत है ।’—एक आगरा-निवासी सज्जन कह उठे ।

पृथीश ने असंकोच उत्तर दिया—परन्तु महाशय, अपना-अपना टेस्ट तो है । वेश्या के नखरे मुझे अच्छे नहीं लगते । गान जैसी सुन्दर वस्तु को भी वह नष्ट कर बैठी । उसमें भी नखरे-वखरे मिलाकर कुत्सित कर दिया । वेश्या-कंठ का गान तो मुझे तिक्त औषधि-सा लगता है । आप सुनें और शौक से सुनें ।

पूरवी ने उस सज्जन के प्रति संयत नेत्र उठाये—किसी के देवी कहने से वेश्या बदलकर देवी न बन जायगी महाशय । वह वेश्या है और वेश्या ही रहेगी । मुफ्त में आप लोग उसे देवी या वेश्या कहने का कष्ट न उठायेँ । पृथ्वी ने जिसका वेश्या होना स्वीकार कर लिया है, हम-आप इने-गिने प्राणी यदि उसके वेश्यापन को स्वीकार या अस्वीकार करना चाहें तो इसमें उसे लाभ-हानि कुछ भी नहीं है ।

सभा इस उत्तर से मुस्कराने लगी । पृथीश स्वयं लुब्ध हुआ । इस स्त्री पर वह आघात करना नहीं चाहता था, आघात करने के उद्देश्य से उसने उसे वैसा कहा नहीं था । केवल बात के पृष्ठ पर बात निकल गई थी । पूरवी को

कोमल कर कुछ कहने के लिए उसका जी चाहने लगा ; किन्तु एक जाने कैसे-संकोच ने उसे घेर लिया ।

भोजन के बाद पृथीश ने विदा माँगी । पूरवी की ओर उसने दृष्टि उठाई ।

‘कल आप आ रहे हैं न ?’—स्मित हास्य से पूरवी ने कहा ।

‘ज़रूर बाईजी, मैं कहना चाहता हूँ..’

‘कहिए । सुनने के लिए मैं तैयार हूँ ।’

आगरेवाले सज्जन का विरक्त स्वर ध्वनित हो उठा—क्यों मुफ्त में बाईजी, बकवाद करती हो । जो तुम्हारी कद्र करे वहाँ आकर बैठो । दो-चार अच्छी चीजें सुनाओ । यहाँ चली आओ, वक्त बर्बाद हो रहा है ।

‘अच्छा नमस्कार ।’—पृथीश ने नमस्कार किया और चल दिया ।

पूरवी आकर अपने स्थान पर बैठी । कमलेश ने भी विदा ली ।

[७]

उषा के प्रथम प्रकाश में कमलेश के उद्यान की लताएँ जाग गई थीं; वृक्षों में जागरण का चिह्न था । और वृक्षों की पुष्परानियाँ जमुहाई लेतीं प्रभात से कुशल-वार्ता पूछने में लगी थीं । भौरों की टोली प्रभाती गान में मस्त थी ।

कमलेश फूल-पत्तियों को देखता रहा था । बारह बजे रात्रि में वह मित्र के बगीचे से लौटा था । शराब का नशा नहीं था, किन्तु आलस्य ने उसे घेर रखा था । प्रभात के मन्द पवन में टहलकर वह कुछ ताजा होना चाह रहा था, किन्तु उसकी खुली आँखों के सामने वह कहाँ का और कैसा सौन्दर्य का सागर उमड़ पड़ा । विश्व के कोने-कोने का रूप, रस, गन्ध बूँद-बूँदकर उस लड़की के शरीर में किसने भर दिया ?

अयाचित रूप से जो आवरण-हीन अम्लान सौन्दर्य उसके खुले नेत्रों के सामने आ गया है, उसे वह आज अस्वीकार भी कैसे करे ? उस ओर से दृष्टि फेरना कमलेश भूल गया । ऐसी सुन्दरता की भावना उसकी दुनिया में नहीं थी । विस्मय-विमूढ़, पुलकित, रोमाञ्चित कमलेश स्थिर खड़ा रह गया । और सामने की खुली खिड़की में भास्कर-निर्मित प्रस्तर-मूर्ति-सी, अर्द्धनग्न सुन्दरी, रूपसी तरुणी के नेत्र आकाश के प्रति वैसे ही निबद्ध रह गये ।

थी वह सविता । धीरे-धीरे सविता के नेत्र व्यथा के निविड़ आवरण में क-से गये । उसकी तारा-मा जाने कहाँ, कौन-से अनजान देश में छिप दी थी ।

निराश व्यथा से सविता ने धीरे से पुकारा—मा !

कमलेश के पैर अपने आप खिड़की के नीचे तक आये, और सविता को इचानते ही वह कह उठा—तुम, तुम सविता ? गुलाब की पँखड़ी-सी अप-प तुम, तुम हो सविता !—अपने अनजान में ही पूछा कमलेश ने ।

सविता की चेतना लौटी । लज्जा, संकोच से वह सिरहने लगी । उसे गने लगा—धरती के रग-रग में अभी-अभी यदि वह समा जा सकती, यदि लि के कण में मिल जा सकती तो कैसा अच्छा होता ।

लज्जा, लज्जा, अपरिसीम लज्जा ! और उसी लज्जा के आवरण में ढँकी क जड़-सी सविता धरती में औंधी गिरकर चिपकी रह गई धरती से । आज यह कैसी उच्छृङ्खल निर्लज्जता वह कर बैठी उस पुरुष के सामने और सके बाद वह मुँह दिखलायेगी कैसे ?

कमलेश भोजन पर बैठा था । माता सामने बैठी थीं । जैसी कि वह सत्य बैठा करती थीं । थाली में सुगन्धित बारीक चावल का भात, साग-भाजी, मक्खन का घी, और छोटे-बड़े कटोरों में नानाविध तरकारी थाली चहुँओर सजाकर रखी गई थी । खीर, दही से लेकर पालक की भाजी, यदि किसी भी चीज की कमी न थी ।

‘परवल कहाँ मिले मा ?’—कमलेश ने पूछा ।

‘सुभद्रा अपने नैहर से आई है सो वहाँ से लेती आई है । थोड़े मुझे भी ज दिये । अच्छे बने हैं परवल ?’

‘बहुत अच्छे, यह तरकारी महाराज की बनाई न होगी, तुमने बनाई है । ? देखो, मैं कैसा जान गया ।’

परम सन्तोष से मा हँसने लगीं—तू न जानेगा, तो जानेगा कौन ? मा के आँचल में ढँका कमला मेरा, मा की सब बातों से जानकार न होगा, तो तौन जान सकेगा ? गोभी तो छुई तक नहीं, कैसा भूलता है बेटा !

‘भूल गया मा । यदि तुम न कहती तो छूता तक नहीं ।’

‘सो जानती हूँ । इसी से तो घण्टे भर भी कहीं जाकर निश्चिन्त नहीं बैठ सकती । तू जनम भर बच्चा बना रहेगा कमला । और इधर तो डबल बेड़ी पैरों में पड़ गई ।’

‘कैसी बेड़ी मा ?’

‘चुप रह । जैसा आप है, वैसी ही एक लड़की भी जाने कहाँ से उठा लाया । यदि बाल में कंधी करूँ तो उसके बाल सँभलें, वरना बुलबुल जैसा घोंसला लिये फिरती रहेगी । साफ कपड़े जब तक पहनने को न कहूँगी, तब तक मैली-कुचैली मंगन जैसी बनी रहेगी । कहाँ तक कहूँ । लड़की नहाने-खाने तक को भूल जाती है । गोद की बच्ची-जैसी है । कहती है—कहानी कह मा ।’

‘कौन मा ?’—अत्यन्त कौतुहल से कमलेश ने पूछा ।

‘वही सुरसती, और कौन ? मुझे तो इस लड़की ने हैरान कर डाला । देखो न आज सबेरे से नहाना-धोना कुछ न किया । मैं जरा पूजा में लगी थी । बस लड़की को मजा मिल गया । श्ररे रमकिया, बुला तो ला जरा बाई को ।’

लज्जासंकोच से आच्छन्न-सी सविता आई और अन्त में उसे कमलेश के सामने भी आकर खड़ा होना पड़ा ।

परम कौतुक से कमलेश ने उसे देखा । प्रातः की भूली-सी घटना उसे याद आ गई । और तभी-तभी कमलेश को एक जाने कैसी अस्वच्छन्दता का अनुभव होने लगा, जिसने उसे सहज बर्ताव करने से रोका । दबी आँखों से वह उसे देखने लगा । प्रथम बार उसने नारी का सौन्दर्य देखा था । उसे लगा, ऐसा रूप उसने आज तक कभी नहीं देखा ।

उसे आश्चर्य होने लगा कि ओस की जो छोटी बूँद, जीवन की जो हरी खुशी, महुए का जो छोटा फूल उसके गृह-प्राङ्गण में पड़ा हुआ था अब तक उस ओर से वह अन्धा कैसे बना रहा ?

वास्तव का वह पुजारी है सो ठीक है । रहेगा, और वास्तव को वह एक दिन पायेगा भी; किन्तु यदि अनायास उसकी दृष्टि के सामने कोई अपरूप वस्तु आ जाय, तो उसे न देखने की अवहेलना करने की भी ऐसी कौन-सी

जरूरत है ? पृथ्वी पूर्ण रूप की लीला-चञ्चल गति है। और वह पृथ्वी का प्राणी उस सौन्दर्य से अतृप्त क्यों रहे ? कमलेश ने आँखें खोलकर उस ओर देखा।

‘नहा लिया ?’—गृहिणी ने सविता से पूछा।

सविता ने सर हिलाकर कह दिया—‘नहीं’।

‘नहीं ? अच्छा किया। तेरे लिए मैं हैरान हो गई सुरसती। सबेरे चाय-चाय पी ली थी या नहीं ? नहीं पी ? और ननकू, जनकिया, हलका ये सब मर गये थे क्या ? घर की लड़की भूखी रहे और घर भर के लोग खीर-पूरी खाएँ, वाह ! तेरे लिए मैं अपना सिर पीट लूँ ? टेबल पर बैठकर चाय पी क्यों न ली ? क्या कहीं पराये के घर आई है ? चल यहाँ आ !’

सविता सत्यभामा के निकट बैठ गई। धीरे से बोली—‘तुम जाने कहाँ चली गई थीं अम्मा। चाय पीने की खबर न रही।’

गृहिणी का मुँह आनन्द की हँसी से दीप्त हो उठा—‘तुझे गोद में लिये मैं दिन भर बैठी रहूँ, क्यों ? अच्छी बेड़ी डाल दी है तूने कमला। पराये की लड़की के लिए कौन ऐसी भंभट सहे !’

कमलेश मुँह फेरकर हँसा।

सत्यभामा सविता की चोटी खोलने में लगीं। दासी सुगन्धित तेल रखकर हट गई।

सविता के सिर में तेल मलकर गृहिणी ने उसे स्नान करने के लिए भेज दिया।

इस दरिद्र, पराये की लड़की को गृहिणी कब जी खोलकर चाह बैठी थीं ; कदाचित् इसकी खबर अब तक उन्हें न लगी हो ; परन्तु इस बात से आज कमलेश भली भाँति जानकार हो गया था और इस बात को जानने के साथ ही साथ वह कम आह्लादित भी न हो सका।

सविता—कमलेश के मन में आया—सविता है रूपरानी, अपनी-सी। यदि उसके और मेरे बीच मा का स्नेह बँट गया तो इसके लिए मुझे जरा भी खेद नहीं है, वरन् खुशी ही है।

[=]

शीत की दुपहरी। गृहिणी उस दिन कमलेश का कमरा साफ करने में लगी थीं। दासी-चाकर व्यस्त थे। अनाड़ी हाथों से सविता भी उन्हें सहायता दे रही थी।

सप्ताह में एक बार वह लड़के का कमरा अपने हाथों से साफ किया करती थीं। काम करती जातीं और दासियों को बका करतीं।

‘तू रोज जरा इस कमरे को सजा-वजा दे सकती है सुरसती?’ सत्य-भामा ने पूछा।

वहाँ आकर सविता कुछ थोड़ा-सा काम-काज करना सीख गई थी। बोली—तुम जाओ न, और इन सबको भी जाने को कह दो। घंटे भर में आकर देखना, काम ठीक हुआ या नहीं?

‘अकेली इतना कर लेली?’

‘काम है ही क्या मा? रोज भाड़ा-पोंछा जाता है। बस टेबुल साफ करना और अलमारी की किताबों को सुधारकर रखना। रहा कलम शेल्फ, वह भी हो जायगा।’

‘इतना काम! बीमार पड़ जायगी बिटिया।’

सविता खिलखिला पड़ी—जाओ अम्मा, आराम करो।

इस प्रकार जबरन उसने सबको हटाया। तब धीरे-धीरे किताबों को साफ करने लगी।

सीढ़ी पर जोर-जोर से जूतों की आवाज़ आई। परिचित थी सविता इस झटिका से, उद्दाम शब्द से। धीरे चलना कमलेश जानता नहीं। जैसा लम्बा-चौड़ा दैत्य सा उसका शरीर था, वैसी ही आँधी-सी चाल। चेहरा उसका बहुत सुन्दर था। बुद्धि-उज्ज्वल नेत्र, उन्नत नासिका के नीचे घनी मूँछें, प्रशस्त ललाट, गोरा रंग। उसके मित्रों की मूँछें साफ थीं। पृथीश भी मूँछें नहीं रखता था, परन्तु कमल विलायत हो आया था, फिर भी उसकी मूँछें ज्यों-की-त्यों रह गईं। घर-बाहर उसकी मूँछें कीहँसी उड़ा करतीं। केवल एक व्यक्ति था पृथीश, जो मूँछें की प्रशंसा करता। कहता—यही तो वीरत्व का चिह्न है। स्त्रियों-से

सुकुमार चेहरे में धरा क्या है। यदि कमलेश-सी मेरी मूँछें होतीं, तो मैं अपने को धन्य समझता। ईश्वर ने कर दिया उलटा, मुझे मूँछ ही न दी। दस-बीस बाल कभी निकल आये तो उससे क्या। झक् झक् मारकर मुझे घोंट डालना पड़ता है।

हँसकर कमलेश कहता—ठीक है। मन तुम्हारा खियोचित है, तो भगवान ने भी मूँछ-दाढ़ी हर ली। मुझे देखो। इतना कहकर कमलेश अकड़कर खड़ा हो जाता और मूँछ मरोड़ने लगता।

तब प्रथीश गम्भीर मुँह किये दूसरी ओर निहारने लग जाता और बस। शब्द निकटतर हुआ और होता ही गया। सविता उस ओर आँखें न उठा सकी। कमलेश के सान्निध्य से उस दिन की लज्जा मूर्त होकर उसे निगलने-सी लग गई। उस दिन के बाद यदि अनिच्छा से कभी कमलेश के सामने वह पड़ भी जाती, तो जल्दी से भाग निकलती। आज ऐक सहसा उसका सामना करना पड़ेगा सो कौन जानता था।

एक जड़ की भाँति सविता खड़ी की खड़ी ही रह जाती, यदि कमलेश कह न उठता—अरे बाप रे, यह तो किताबों का ढेर लगाकर बैठी हो ! पढ़ने के लिए चुन रह थीं ? कौन-सी पसन्द आई ? कमलेश के मुँह में न लज्जा थी, न संकोच। उस दिन की बात कदाचित् वह भूल गया हो।

किताबों के ढेर के सामने खड़ी सविता अपरिसीम लज्जा से पसीने में डूबने लगी। उस बात को वह भूल नहीं सक रही थी कि इस व्यक्ति के सामने वह उस दिन निर्लज्जता की शेष सीमा तक को लाँघ गई थी।

‘कौन-सी पसन्द आई सविता ?’—कमलेश वैसे ही पूछने लगा।

‘आपका कमरा साफ कर रही थी।’—अत्यन्त सभ्य रीति से सविता ‘आप’ शब्द उच्चारण कर गई।

कमलेश को उसने पहले-पहल ‘आप’ कहा।

कमलेश ने शायद उस ओर ध्यान दिया, न दिया। परन्तु ‘आप’ कहने-वाली सविता के कानों में वह शब्द श्रुतिकण्ठ बन बैठा। और उस कटुता के बोझ के नीचे वह दब-सी गई।

‘साफ कर रही थीं ? तो मा न अपना काम तुम्हें सौंप दिया है। बैठ जाओ। ज़मीन पर क्यों, इस कुर्सी पर बैठो न।’

कमलेश जरा-सी खुशी मुँह में लपेटे कहने लगा—मा की कुछ आदत है, अपने हाथों मेरा काम किये बिना उन्हें सन्तोष नहीं मिलता।

सविता चुप रही।

‘जब जी चाहे, किताब पढ़ा करो। जब यहाँ की किताबें चुक जायँ, तब नीचे की लाइब्रेरी से निकाल लिया करो। अच्छा लो, वहाँ की चाभी तुम्हें दिये देता हूँ। दो हैं, एक मेरे पास रहेगी।’

‘ये सब अंग्रेजी की पुस्तकें हैं।’—सविता ने सहमी हुई आँखें उठाईं।

‘तो क्या हुआ ?’

‘मैं अंग्रेजी नहीं पढ़ सकती।’

कमलेश चिल्ला पड़ा—अंग्रेजी नहीं पढ़ सकतीं ? दिन भर क्या किया करती हो ? वक्त तुम्हारा कैसे कटता है, सविता ?

अत्यन्त विस्मय से सविता ने उत्तर दिया—वक्त ? किन्तु अच्छी तरह तो कट जाता है। वक्त काटने के लिए मुझे किताबों की जरूरत कहाँ पड़ती है ? तुम्हें पड़ती है क्या ?

इस सहज रीति से बात-चीत कर सकने से सविता का मन कुछ हलका पड़ गया। वह सहज कौतुक से कमलेश का मुँह निहारने लगी।

‘बिना किताब के कोई जी भी सकता है ?’—कमलेश अपनी धुन में कह चला—किताब के सिवा दुनिया में है ही क्या ?

‘ऐं ! तुम क्या कह रहे हो ?’

‘ठीक कहता हूँ। किताब है और बस, उसके उपरान्त सब नकली है।’

‘और मैं जो जी रही हूँ।’—सविता के मुँह पर दबी हँसी थी।

‘तुम ?’—कमलेश बड़े विचार में पड़ गया।

‘अच्छा, अभी-अभी जो तुम कह गये, सब नकली है तो इस नकली के बीच में किताब ही एक असली कैसी हो गई ?’—एक नटखट बालिका-सी सविता पूछ बैठी।

‘बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने, विद्वानों ने, गुणियों ने सत्य की खोज में जिन्दगी बिता दी, और जिन्दगी के अन्त में छान-बीनकर जो कुछ सत्य उन्होंने पाया, उसी को पुस्तकों में जीवित कर गये हैं। समझीं न सविता ? इन्हीं पुस्तकों के सहारे हम सत्य को देख सकते हैं।’

‘ऐसा !’—विस्फारित नेत्र से उसने कहा।

‘हाँ, यही बात है। तुम अँग्रेजी बिलकुल नहीं जानती ? ज़रा भी नहीं ?’

‘जो कुछ जानती हूँ वह न जानने के समान है। मुझे अँग्रेजी पढ़ाओगे ?’

‘पढ़ोगी तुम ?’—विपुल आग्रह से कमलेश कहने लगा—ज़रूर पढ़ा-ऊँगा, अँग्रेजी में विश्व-साहित्य है। उसमें जितनी चीज़ें मिलेंगी, वे सब सीखने लायक हैं। आज से तुम शुरू कर दो। किताबों की ज़रूरत तो पड़ेगी ही। कल मँगवा लूँगा। नहीं, मेरे पास नहीं है। अक्षर पहचानती हो न ?’

‘पहचानती थी, किन्तु भूल गई।’

‘कुर्सी और हटाओ। अभी पहचान लोगी। वह कागज़ लेती आना !’

कमलेश गम्भीर मनोयोग से उसे पढ़ाने लगा और अखंड मनोयोग से सविता अक्षर पहचानने की चेष्टा करने लगी।

‘अरी सुरसती, कमरा आज साफ होगा या साँभ तक बैठी साफ करती रहेगी ? जलपान का वक्त हो गया, लड़की का पता नहीं। चल, उठ,’—कहतीं सत्यभामा कमरे में आकर स्तब्ध हो उठीं।

सत्यभामा ने कहा—यह क्या हो रहा है ? बाहरी लड़की, कमरा ज्यों का त्यों पड़ा हुआ है, आप आराम से कुर्सी पर बैठी हुई है !

‘सविता को पढ़ा रहा हूँ मा।’

गृहिणी हँस पड़ी—अच्छा-अच्छा, पढ़ीं ! जैसा पागल तू, वैसी ही पागली लड़की।

‘मैं पागल हूँ मा !’

‘और नहीं तो क्या। क्या पढ़ा रहा है ?’

‘अँग्रेजी।’

‘मेरी सुरसती यों ही भली है। अँग्रेजी पढ़ाकर क्या करेगा ?’

‘थोड़ा-बहुत सीख लूँ न अम्मा !’—विनय से कहा सविता ने ।

‘पढ़ना बाबा, मैं रोकती कब हूँ ।’—खिन्न स्वर से बोलीं सत्यभामा ।

‘देखना अम्मा, छः महीने में तुम्हारी सुरसती कैसा सीख लेती है ।’

‘अच्छा-अच्छा । अभी तो चलो भीतर । जलपान ठंडा हो रहा है । तब तक मैं कमरा साफ किये देती हूँ ।’

‘मैं कर लूँगी मा ।’

‘नहीं, तू रहने दे ।’

‘करूँगी मा ।’

‘फिर जिद ? जाती है या खड़ी बहस किया करेगी ? बाप रे, इस लड़की ने मेरे नाकों दम कर रखा है ।’

हँसते हुए वे दोनों चल दिये ।

गृहिणी बड़बड़ाती हुई कमरे की सफाई में लग गई । चिल्लाकर कहने से न भूलीं—समोसे सब खा लेना, मेवे, फल छोड़ना नहीं, यदि न खाये जायें तो रसगुल्ले छोड़ देना, मैं आकर देखूँगी, समझी सतिया ?

सविता ने कहा—अच्छा ।

[९]

तो वह थी जूही की एक पँखुड़ी जैसी निमल, निष्पाप । ओस की एक बूद जैसी शुभ्र, शीतल । अंगूर के रस जैसी मीठी, मधुर । जुगनू की दीवट जैसी निरहंकार, निरभिमानी । निर्भर की गति जैसी सरल और बुलबुल की प्रभाती जैसी तन्द्रालस । भैरवी की मूर्च्छना जैसी स्वप्नातुर । साँभ की पुरवी जैसी कुम्हलाई । जय-जयवन्ती जैसी लचकती । और...और राधिका के ध्यान जैसी अपनी सत्ता बिसरी—लुटी-सी ।

तो ऐसी उस लड़की सविता के हृदय में यदि उस दिन प्रेम का पहला चुम्बन अँक गया हो, तो इसमें विस्मय की बात कौन-सी है ? उस दिन—उसी एक दिन की तो बात है, कमरे के अन्दर जाने से वह रुकी । कमलेश की माता पुत्र से कह रही थीं—कैसी सुन्दर लड़की है सुरसती, ऐसी ही बहू मुझे चाहिए ।

इतना सुन पाई थी कि सविता भागी-भागी चली गई पुष्प-उद्यान में। उसके देह-मन में एक आकुल सिहरन जाग पड़ी थी।

किन्तु उसने भूल की—गहरी भूल। यदि मिनट भर वहाँ रुक जाती, तो पूरी बातें सुन पाती। और कदाचित् तब वह इस भयानक भूल से बचती भी।

सत्यभामा और कमलेश जान भी न सके कि उनकी बातों की चोरी बाहर से हो गई और चोर ने लब्ध वस्तु की गठरी में अनायास ही अटूट ग्रन्थि डाल दी।

‘किन्तु यह विवाह तो होने का नहीं। जिसके तीन कुल में बत्ती जलाने को कोई नहीं ऐसी लड़की मेरी बहू नहीं बन सकती है।’—वचन शेष कर माता ने दीर्घ श्वास के साथ पुत्र की ओर देखा।

कमलेश चुप रहा।

सत्यभामा कहने लगीं—जज की लड़की भी बड़ी सुन्दर है। रमेश कह रहा था—सुरसती से भी अच्छी है। लिखी-पढ़ी खूब है। मेरा जी इस लिखने-पढ़ने से ही डरता है। ऐसी लिखी-पढ़ी लड़की लेकर मैं करूँगी क्या। किन्तु रमेश कह रहा था—‘लड़की धीर, शान्त, कर्मशील है।’ भले घर की ठहरी, ऐसा तो होना ही चाहिए। मैंने हाँ कह दिया है। तू क्या कहता है?

परन्तु जिसके उद्देश्य में इतना सब कहा गया, उसने शायद ही पूरी बातें सुनी हों।

कमलेश के कानों में मा के वही शब्द मड़रा रहे थे—कैसी सुन्दर है सुरसती, ऐसी ही बहू मुझे चाहिए।—तो वह लड़की, जिसे वह गुड़िया समझे हुए था, और जिसके सरल प्रश्नों से सदा वह एक कौतुक अनुभव किया करता था, जिसे डरा-धमकाकर, लाड़-प्यार से पढ़ाया करता था, और जो एक निर्भर छोटी चिड़िया-सी उसका मुँह निहारा करती थी, उसी से उसके विवाह की सम्भावना।—कमलेश को हँसी आई—कैसे मजे की बात है। वह छोटी चिड़िया बन जायगी उसकी दुलहिन, घूँघट काढ़े घर में घूमती फिरेगी।

एक सरल आमोद से, सहज कौतुक से कमलेश का जी भर उठा। जी चाहने लगा सविता को देखने के लिए। उसके अवगुणितता वधू होने की तो

वह कभी कल्पना भी नहीं कर सका था। जाने घूँघट काढ़े वह कैसी लगेगी !
‘हाँ...हूँ’ करता कमलेश माता के निकट से उठकर बाहर गया और सारे घर में सविता को ढूँढ़ता फिरने लगा।

साँझ बेला की नशीली चाल में उद्यान की जूही, चमेली आदि पुष्पराशि मस्तानी भूम रही थीं। हिमालय की विद्याधारियाँ वृक्ष-लता में फूल चुन रही थीं। कोई माला गूँथने में व्यस्त थी। आकाश से रंभा, मेनका आदि अप्सराओं की टोली भी मेहदी की भाड़ी में उतर चुकी थी।

कमलेश के घर से लगा हुआ वृहत् पुष्प-उद्यान, कृत्रिम पर्वत, झरना। एक ओर छोटा तालाब, संगममर की सीढ़ियाँ जल तक उतर चुकी थीं, चहुँ-ओर ऊँचे वृक्ष और उद्यान को घेरकर घनी, ऊँची मेहँदी की क्यारी। उद्यान में जाने कितनी ही विचित्र वर्ण की लता, पुष्प, पेड़, पौधे, भाड़ी-भुरमुट। बस था इतना ही।

कमलेश के इस उद्यान में नित सन्ध्या-बेला में साँझ की पूरबी जैसी अनुपम अप्सराओं, विद्याधारियों का मेला लग जाता। मेहँदी की भाड़ी में से अनगिनती लाल परियाँ निकल आतीं। कोई मेहँदी पीसती, कोई रचाती, वृक्ष-शाखाओं पर बैठी कितनी ही झूना झूनतीं। कोई किसी को विरह-वार्ता सुनाती, जिस कथा को सुनकर वृक्ष-लता के आँसू भरते। करोड़ों फूल आँसू बनकर भर पड़ते। पवन सिसकियाँ लेता, सिरसिराने लगता। कोई रूपरानी सावन गाती, उस गान को कोकिला अपने कंठ में भर लेती और नारियल-वृक्ष पर बैठी वह कुहक उठती—कू...ऊ। अक्सराएँ उसे खोजती फिरतीं। चिढ़ाकर कहतीं—कू...ऊ।

खुशी से कितनी ही खिलखिला पड़तीं, जिस हँसी को सुनकर पुष्प-हृदय में बैठी तितली हँसी से काँपने लगती। भौरों की टोली में वह हँसी बँट जाती, बुलबुल अपने स्वर में उस खुशी को भर लेती। जुगनू के दीवट उस हँसी से जल उठते। कोई किसी के पीछे दौड़ पड़ती। उस गति को मधुमक्खी अपनी चाल में भर लेती। नित उस उद्यान में ऐसी भीड़ लग जाती।

उस मेला की खबर कदाचित् पृथ्वी से गोपन रहती, कदाचित् न रहती।

परन्तु सुन्दरियों के रङ्ग-रञ्जित पद-विह्वल पुष्प-जता में अंकित रह जाते और उनकी आँखों की खुशो, मुँह की हँसी उद्यान की वायु में मड़राया करती। दीर्घ श्वास वृक्ष शाखा में भर-से जाते और रूप को आभा चाँद की छाया में समा-सी जाती।

ऐसी ही एक आनन्द-वेला में नवोढ़ा का पहला चुम्बन लिये उद्यान के बीच में आकर खड़ी हो गई सविता।

उस अपरूप को देखकर रूपसी-कन्याएँ विस्मित हो गईं। रिनभिन-रिनभिन-भिनिक-भिनिक-भिनिक-भिन नूपुर-सिञ्जन से उद्यान का वायु भंकृत होने लगा। सुर-सुन्दरियाँ गिरती-पड़ती दौड़ी आईं। सविता को घेरकर खड़ी हो गईं। पूछने लगीं—रूपकन्या, रूपकन्या, भरी साँभ में किसे ढूँढ़ती फिर रही हो? किस देश का निवासी और कैसा है तुम्हारा पिया? इन्द्र-धनुष-सा अपरूप या समुन्दर-सा गम्भीर? कहो, कहो रूपकन्या, कैसा है तुम्हारा पिया?

उन सबकी वह बाणी पवन ने अपनी नसों में भर ली।

पुलक-विह्वल सविता के कानों में कुछ न पहुँच सका। अपने चहुँओर केवल 'फुस-फुस', 'सिर-सिर', 'भिर-भिर' सुनने लगी। आँखों से वह उन कन्याओं का देख न पाई। पवन में थी एक मर्मर-ध्वनि नूपुर-सिञ्जन-सी। सन्ध्या के आँचल में वही साँभ की पूरवी। पुष्पों में एक दबी हँसी और सविता की नसों में एक अनोखी सिहरन।

खजूर वृक्ष पर बैठा पखेरू चिल्ला उठा—पिउ कहाँ, पिउ कहाँ।

उस पुकार से सविता के हृदय की प्रेम-चाह की पहली ग्रन्थि खुल गई। रोमाञ्चित सविता ने आँख उठाई। सामने कमलेश खड़ा था। सविता ने देखा अपने पिया को और कमलेश ने देखा वधू सविता को।

उस वधू को देखकर कमलेश को हँसी आ गई—नहीं, नहीं, इस तरुणी को वधू का घूँघट बिल्कुल नहीं सोहता।

नवोढ़ा की लज्जा लिये सविता खड़ी काँपने लगी, यह कौतुक देखाकर स्वर्ग-कन्याएँ खिलखिला पड़ीं। उस हँसी से भारी पवन हलका हो गया। सविता भाग निकली। विस्मित कमलेश उस ओर निहारता रह गया।

[१०]

दिन उसके कटने लगे एक स्वप्न-सी खुशी के भीतर। सविता अब कुछ काम-काज सीख गई थी। कमलेश का सारा काम वह करती। सुधारकर सब न बनता, किन्तु जिनता बतना उतना करती, बाकी गृहिणी करती।

गृहिणी सबसे कहती—बाप रे, इतना कर लेना भी क्या कम है? पूरे कमरे को वह जरा-सी लड़की कहीं साफ कर सकती है? यों ही सरस्वती कमजोर है, मैं उसके हाथ से काम छीन लेती हूँ, वरना मेरी सतिया बड़ी काम की, बुद्धिमती लड़की है।

सुननेवाले मुँह फेरकर हँसते। सविता जैसी काम की थी, सो सभी जानते थे। सविता ने अब कुछ अँग्रेजी पढ़ ली थी।

उस दिन सविता कमलेश का ड्राअर खोले बैठी थी। काम की चिट्ठियाँ फाईल में रख रही थी और बाकी सब फाड़-फाड़कर ढेर लगा रही थी।

एक पत्र पढ़ते-पढ़ते अबानक उसका मुँह रक्त-हीन हो गया। यह कहाँ, किसके आश्रय में आकर वह बसी हुई है? ऐसी बड़ी दुनिया में क्या उसे जगह न मिल सकी थी जो उसी राक्षस के आश्रय की उसने भीख माँगी, जिसने कि उसकी माता का खून किया? सविता विचारने लगी—खून नहीं तो क्या? यदि विवाह से वह इन्कार न करते, तो माता शायद ही बीमार पड़ती। और अन्त में? हाँ, यही राक्षस तो अन्त में वहाँ गया था, मा का रक्त चूसने। इसे देखकर मा का मुँह घृणा से कुञ्चित हो गया था। बोली थी—यह किसे लिवा लाई है?

‘नहीं-नहीं, यह न होंगे।’—जोर देकर सविता कहने लगी—वह हृदय-हीन, अश-पिशाच व्यक्ति कोई दूसरा रहा होगा, जिसने कि रुपयों के पीछे अपनी वाग्दत्ता को त्याग दिया। जरूर वह व्यक्ति यह न होंगे।

पत्र था सविता के पिता का। पत्र में शादी की सायत-घड़ी लिखी हुई थी। पत्र लिखा गया था कमलेश को। उसमें दहेज के अलंकार, बर्तन की लिस्ट थी, एवं दान-सामग्री तथा नकद बीस हजार रुपयों की शर्त वाली बात थी, कि जिसे पिता ने मानकर अपनी अन्तिम सम्मति दे दी थी।

‘नहीं, यह न होंगे।’—सविता विचारने लगी—यह हो ही नहीं सकते हैं। किन्तु यह पत्र यहाँ कैसे पहुँच गया ? शायद वह व्यक्ति इनका मित्र हो।

सागर में डूबती हुई नौका को एक तृण का सहारा-सा मिल गया। घुमा-फिराकर बार-बार सविता कहने लगी—अवश्य वह इनका मित्र है। हाँ, है। ऐसी सुन्दर और सरल आकृति में वह हृदयहीन घातक रह ही कैसे सकता है ? इस वीरश्री-से अवयव में वह पुरुष, जिसने कि अपनी वाग्दत्ता को अनायास पराई करना चाहा है, उस घृणित का स्थान हो ही कैसे सकता है ?

त्याग दिया ! उसने अपनी वाग्दत्ता को त्याग दिया !—इस बात को विचारते ही सविता घृणा, अपमान से काली पड़ गई। इस अकेले कमरे में भी अपमान की लज्जा से वह लाल हो गई, पसीने से डूब गई। छिः-छिः, कैसी घृणित, हेय, नीच प्रवृत्ति है उस व्यक्ति की। तो मेरा मूल्य दुनिया में कुछ नहीं है ? अन्ततः उसके पास तो कुछ न रहा ! पिता के पैसे के बल पर बिक रही थी। और उन तुच्छ रुपयों के परे जो एक शान्त, शिष्ट प्रेम, श्रद्धामयी भक्ति, प्रेमभरा ध्रुवतारा-सा उज्ज्वल नारी का मन रहा, उस ओर उसने भूलकर भी न देखा। रूप-यौवन यदि समय का सौदा है, तो हो; किन्तु वह हृदय तो मरने का साथी है न ? परन्तु उसका मूल्य ? नहीं, दुनिया के पास कुछ नहीं है। है केवल रुपयों का मूल्य। लज्जा, लज्जा ! उसका मूल्य कुछ नहीं है, एकदम कुछ नहीं। लज्जा से सविता ने अपने आँचल में मुँह छिपा लिया। और उन बन्द नेत्रों के भीतर पुञ्जीभूत अन्धकार को ठेलती हुई एक कुत्सित, भीतिप्रद वृद्धा आकर खड़ी हो गई। शायद वह लज्जा का नग्न रूप हो या और कुछ हो, शायद वह सविता के मन की भ्रान्ति हो या और कुछ हो। किन्तु सविता उस रूप को देखकर घबराकर उठ खड़ी हुई। देखा, पाया अपने को एकान्त कमरे में। हाथ में एक पत्र, जो कि पसीने से विवर्ण हो रहा था।

किन्तु...वह विचारने लगी—किन्तु लिफाफे पर तो इनका नाम-पता साफ लिखा हुआ है न। फिर ? क्या यही ? सविता और विचार न सकी। पत्र लिये बाहर की ओर भागी।

लाइब्रेरी में जब सविता पहुँची तब कमलेश पुस्तक में ऐसा डूबा हुआ

था कि वह सविता की उपस्थिति तक न जान पाया। सविता उसकी कुरसी से लगकर खड़ी हो गई—क्या तुम वही हो ?

कमलेश चौका। किताब हाथ से छूटकर जमीन पर गिरी। विस्मय से उसने पल भर के लिए तरुणी की कम्पित देह के प्रति देखा, फिर माता-जैसे आदर-यत्न से जमीन पर पड़ी पुस्तक उठाई। अपने परिहित वस्त्र से उसे भाड़-पोंछकर टेबुल पर रखा, देख लिया कि पुस्तक को कुछ हानि तो नहीं पहुँची ? इसके बाद कमलेश ने पूछा—काँप क्यों रही हो ? क्या बात है ? जी खराब तो नहीं है ?

‘बोलो, बोलो जवाब दो ।’

‘अरे तो भाई, क्या जवाब चाहती हो ? बात भी कुछ सुनूँ ।’

‘पूछ जो रही हूँ ।’

‘सो क्या ? बात क्या है ?’

‘तुम वही हो ?’

‘यहाँ ज्यतिष थोड़े ही मैं पढ़ा हूँ, जो तुम्हारे मन के प्रश्नों का जवाब दूँ ।’

‘यह पत्र तुमको लिखा गया था ?’—पत्र दिखलाकर सविता ने पूछा।

ताच्छल्य से कमलेश ने उत्तर दिया—इस जरा-सी बात के लिए ऐसी पूछ-ताछ !

‘जरा-सी बात ?’

‘और नहीं तो क्या ?’

‘अच्छा कहो, तुम्हें यह लिखा गया था ?’

‘देखती नहीं हो—मेरा ही नाम लिखा हुआ है ? इस घर में और दो-चार लड़के हैं, जिनकी शादी की बात चलती ? मैं हूँ। बैठ जाओ ।’

सविता ने एक बार अपरिसीम घृणा से उसे देखा और फिर जैसी आई थी वैसी ही लौट गई।

कमलेश विस्मय से उस आँर निहारने लगा। दो-चार मिनट उसने ऐसा किया। फिर किताब खोलकर पढ़ने बैठ गया। एक बार जी में आया कि चलकर पूछूँ, जी कैसा है। किन्तु दूसरे पल वह पुस्तक में अपने को खो बैठा।

[११]

सविता के नेत्र में न आँसू थे, न लज्जा, न ज्वलन्त घृणा । नहीं, कुछ नहीं ; था केवल एक विराट् सूनापन । आधी रात की एकाकी नीरवता में अकेली वह कमरे के कोने में दबकी बैठी रही ।

रात्रि की वह चुप्पी उसके सूनेपन में मिलकर एकाकार हो रही थी । उस सूनेपन का न कोई रूप था, न रंग । स्तब्ध थी सविता—शव-सी भाव-भाषा-शून्य । घृणा ? वितृष्णा ? परन्तु करती किस पर ? उस सूने मन को लेकर ऐसी बड़ी पृथ्वी पर घृणा, द्वेष करती ही कैसे ? फिर पृथ्वी भी तो सूनी थी न ?

सूनी ? नहीं तो क्या । घड़ी में दो की घण्टी बजी । चौंककर सविता उठ बैठी । उस शब्द को सुन सकने से उसका जी कुछ हलका-सा हुआ । बत्ती जलाकर वह घड़ी को देखने लगी । बिजली के प्रकाश में कमरे से रात की अधेरी जाती रही ।

स्तब्ध विस्मय से सविता घड़ी के सामने वैसी ही खड़ी रह गई । यह कौन-से दैत्य, दानव या देवता का परिहास है ? वह तो विचार भी नहीं पाती । यह किसके आश्रय में वह आ गई ? और फिर सब बात जान लेने के बाद भी वह वहीं पर बैठी है ! अपरिसीम घृणा से उसके मुख की रेखाएँ कुञ्चित हो गईं ।

सविता ने धीरे से द्वार खोला । नहीं, अब वह एक पल भी यहाँ रह न सकेगी । और चलती ही चली जायगी । अन्धकार के काले स्तरों में वह अपनी सत्ता को निश्चिह्न कर डालेगी । उन स्तरों में मिलकर वह भी एक काला स्तर बन जायगी । अपने सूने मन को लेकर इस सूनी पृथ्वी के किसी सूने कोने में काली लकीर-सी कहीं पड़ी रहेगी । बस ।

सब द्वारों को खोलकर सविता बाहर के होते में पहुँच गई, एवं लौहद्वार को भी खोल लिया । ऊँचे वृक्षों पर से कोई पक्षी फड़फड़ा उठा । काली रात के स्तरों से कोई फुसफुसाकर हँसने लगा । सविता चौंकी । जाते-जाते वह

लौटी। एक बार ऊपर की खुली खिड़की की ओर देखा। कमलेश के कमरे की बिजली वैसी ही अम्लान जल रही थी।

सविता ने देखा और देखा। अन्धकार में प्रकाण्ड हाथी-सा मकान खड़ा था और खिड़की से निकलता हुआ उज्ज्वल प्रकाश एक छोटे तारे-सा हँस रहा था। सविता के नेत्र विस्फारित हो गये। उसे लगा, उस प्रकाश के अणु-परमाणु में एक अद्भुत मुस्कान थिरक रही है। सविता वहीं जमीन पर बैठ गई। वह कहाँ जायगी, और जा ही कैसे सकती है ?

सविता उठी। वह भागना चाहने लगी। उस खिड़की की ओर से घृणा-विराग से मुँह फेरना चाहने लगी। किन्तु फिर भी वैसा न कर सकी। ऐसा बड़ा विस्मय सविता के जीवन में प्रथम बार आया। ऐसे विचित्र असमञ्जस का सामना वह कैसे करे ? किस तरह यह सब सहे वह ? विचारने लगी सविता—ऐसा परिहास करनेवाला वह व्यक्ति है कौन ? जो उसका घृणास्पद था, उसे प्रेमास्पद बना दिया। जिसकी छाया तक से उसे घृणा थी, उसी की छाया में उसे बैठा दिया। जिस अर्थ-पिशाच ने उसके नारीत्व को पैरों तले रौंदा उसी के द्वार पर उसे भिखारिन बना दिया गया। जिसने उसकी माता की हत्या की, उसी हत्यारे को बना दिया उसका पीतम। जीवन के साथ जीवन ही का यह कैसा नरन, कुत्सित परिहास ! अरे, वह अब जाय कहाँ ? करे क्या ? उन्हें देखे बिना रहे कैसे ? यही है सत्य ? किन्तु ऐसे सत्य से तो वह कभी भी परिचय करना न चाहती थी। मिथ्या ही में वह तो सुखी थी। यदि दुनिया सत्य की पुजारिन है तो रहे ; वह तो मिथ्या ही में घुल-मिलकर रहना चाहती थी। फिर ऐसा उलटा किसने कर दिया ?

सविता वहाँ रह भी नहीं सक रही थी और जा भी नहीं सक रही थी। उसके एक ओर थी घृणा, दूसरी ओर प्रेम। एक ओर आँसू, दूसरी ओर खुशी। एक ओर खोने का दुःख, दूसरी ओर पाने का सुख। और इन्हीं दो के निष्पेक्ष में पिसी छोटी लड़की सविता, भोली सुहावनी सविता सिसक-सिसककर रोने लगी—कहाँ...कहाँ...तो वह जाय कहाँ ?

हिः हिः हिः हिः—कोई पखेरू हँस पड़ा। पेचक फड़फड़ाने लगा।

रोमाञ्चित सविता ने आकाश की ओर देखा, तारा-मा कहीं न दिखीं। बाहर-भीतर, आस-पास केवल अन्धकार और अन्धकार ! सविता चीखती-चिल्लाती हाते के भीतर उन्मादिनी-सी दौड़ती फिरने लगी।

अत्यन्त विस्मय से कमलेश टाच लिये दौड़ा-दौड़ा नीचे चला आया। तभी-तभी वह किताब बन्द कर सोने जा रहा था। परन्तु उस आर्त चीत्कार ने उस जैसे मनुष्य तक को विचलित कर दिया। भागा हुआ कमलेश नीचे आया।

टाच के उज्ज्वल प्रकाश में एक ने दूसरे को देखा, विनकुल पास से।

सविता को पहचान सकने के साथ ही साथ कमलेश ने विमूढ़-विस्मय से पुकारा—सविता !

उत्तर कुछ न मिला।

‘सविता, सविता, तुम्हें क्या हो गया है ?’

एक पल सविता ने उसे देखा, न देखा, उसका चेतना-हीन शरीर कमलेश के पैरों तलें लोट रहा।

आकाश तले कोई पखेरू हँस उठा—हिः हिः हिः हिः हिः।

[१२]

सविता ने धीरे-धीरे आँखें खोल दीं। सूर्य की अनुत्पन्न, प्रथम सुवर्ण-रश्मि पृथ्वी पर फैल रही थी; आश्चर्य से उसने चहुँओर देखा। शय्या पर अपने को पड़ी पाया। दास-सासियों की भीड़ द्वार पर थी। कई डाक्टर उसे घेरकर बैठे थे। कमलेश स्टेथिस्कोप से उसके हृदय-स्पन्दन को कान लगाकर सुन रहा था। और गृहणी उसे निहारती सिसक रही थीं।

उसे निहारते देखकर सत्यभामा उसके मुख पर झुकीं—मेरी सुरसतिया, लाड़ली बिटिया, क्या हो गया था तुम्हें ? मेरी रानी, बोल, अब जी कैसा है ?

कमलेश ने इशारे से माता को निषेध किया। डाक्टरों ने नब्ज देखा, प्रसन्न मुख से बोले—शक्का अब नहीं है माजी, आप शान्त होकर बैठें। बाई की तबियत अब ठीक है।

‘मेरी सतिया अच्छी हो जायगी न ? उसके बिना मैं जीऊँगी नहीं डाक्टर ।’

‘सविता अब अच्छी है मा । घबराओ नहीं । देखो न, तुम्हें रोती देख-कर वह घबरा रही है ।’—कमलेश ने कहा ।

‘मेरी सतिया घबरा रही है ? नहीं, मैं रोती कहाँ हूँ बिटिया ?’

जरा ठहरकर गृहिणी ने पुकारा—सतिया !

‘मा ।’

‘अब जी कैसा है ?’

‘अच्छा है अम्मा ।’

‘क्या हो गया था तुम्हें ?’

‘मुझे ?’—विस्मय से उसने पुनः पुनः सबको देखा, फिर बोली—कुछ तो नहीं ।

सविता ने कमलेश की ओर मुँह करके पूछा—क्या मैं बीमार हो गई थी ?

‘हो गई थी । अभी चुपचाप पड़ी रहो ।’

‘मुझे कुछ भी खबर नहीं । क्या हुआ था ?’

सत्यभाभा के कुछ कहने से पहले शीघ्रता से कमलेश ने कहा—विशेष कुछ नहीं । यो ही थोड़ा-सा बुखार ।

सविता ने आँखें बन्द कर लीं । वह विचारने लगी—बुखार ? कब बुखार आ गया, कैसा बुखा आया कि सुध तक जाती रही ! जाने कैसा वह बुखार रहा ? बहुत विचार करने पर भी बीमारी की बात वह स्मरण न कर सकी । हाँ, इतना स्मरण आया कि रात में वह कहीं भागी जा रही थी । भागी जा रही थी ? परन्तु क्यों ? धीरे-धीरे कुछ अस्पष्ट सपना-सा उसे लगने लगा । कुछ बातें याद हो आईं और वह पत्र ? एकदम सविता सिंहरी ।

गृहिणी चिल्लाई—देखो-देखो कमला, बिटिया फिर कैसा कर रही है । कमलेश नब्ब देखने लगा ।

सविता ने नेत्र खोल दिये—यही है, यही-यही । उसके जीवन का वह

दुष्ट ग्रह यही है, यही-यही। इसी व्यक्ति को वह दुनिया में सबसे अधिक घृणा करती है।

यद्यपि कमलेश के स्पर्श से सविता का प्रत्येक लोमकूब घृणा से संकुचित होने लगा ; किन्तु फिर भी वह उस हाथ को हटा न सकी। और अधिक आश्चर्य तो यह है कि उसी घृणित स्पर्श को उसकी शिरा-उपशिरा, प्रत्येक रोम के रन्ध्र चातक की-सी तृष्णा से चूस लेने लगे। मिनट भर इसी भाँति कटा।

कमलेश नब्ज छोड़कर कुरसी पर बैठ गया। रोगिणी उसकी अचछी थी।

तृप्ति से सविता का जी भर चटा। पा गई थी, पा गई थी वह जीवन का पाथेय।

उस स्पर्श का जीवन ही कितना था ? बूँद भर मदिरा, ठुमरी की एक मुरकी, अभिसारिका की पड़ती रात, छोटा, बहुत छोटा जीवन। परन्तु सविता के अंतर में स्पर्श का वह छोटा जीवन विनाशहीन हो रहा, वैसे ही चिरन्तन, चिर मोहन, चिर जीवित होकर ; वैसे ही थोड़ा-सा छल, थोड़ी-सी हँसी, थोड़ा-सा देखना, थोड़ा-सा मधु लेकर।

रात दस न बजे पाये थे, कमलेश के घर भोजन आदि हो चुका था। नित्य दस के पहले गृहवाले भोजन से निबट जाते थे। परन्तु प्रातःकाल भोजन से निवृत्त होने में एक बज जाता था। कुछ नौकर चौके में भोजन करते थे। उन सबको भोजन करवाकर गृहिणी प्रायः एक बजे छुट्टी पाती थीं। दोपहर में उन्हें घण्टे भर सोने का अभ्यास था। उसके बाद कहीं बैठने जातीं, या तो कोई बैठने आ जाती। कभी सविता उन्हें महाभारत, रामायण सुनाती, दासी पैर दाबती रहती।

सविता के काम थोड़े-से थे। प्रातः-सन्ध्या सत्यभामा की पूजा का उपकरण ठीक कर देना, चन्दन घिसकर, फूल चुनकर, बेलपत्र, धूप-दीप, नैवेद्य सब क्रम से वह ठीक कर देती थी। पूजा का कमरा अपने हाथों धोती। स्वर्ण-सिंहासन पर बैठे ठाकुरजी के लिए गजरा-हार बनाती। तब तक गृहिणी घर-गृहस्थी के धन्धों से निबटकर स्नान करतीं ; फिर ठाकुरजी के लिए भोग बनातीं। कभी भोग बनाने में सविता भी सहायता करती। थोड़ा-थोड़ा बनाना

वह सीख रही थी। उसके बाद सविता जलपान कर कमलेश के कमरे को साफ करती। टेबल कुर्सी आदि नौकर भाड़-पोंछ जाता, उन्हें सविता फिर से भाड़ती-पोंछती।

दो घंटे बाद सत्यभामा की पूजा समाप्त होती। वह सर्वप्रथम सविता को बुलाकर ठाकुरजी का चरणामृत देती। थोड़ा कमलेश के मस्तक पर छिड़कती। तब नौकरों को देती। उसके बाद सविता को स्नान करवाती, सामने बैठकर उसे भोजन करवाती। दोपहर में कुछ देर सविता पाठाभ्यास करती। फिर सत्यभामा के निकट बैठती। सन्ध्या समय भी यही नियम रहता।

गृहिणी निश्चिन्त, आराम से गलीचे पर लेटी थी। सविता उनकी गोद के पास बैठी कह रही थी—साँझ बेला बगीचे में जाने से क्या होता है मा ?

‘कुछ नहीं।’

‘फिर मुझे मना क्यों करती हो?’

‘तू मत जाया कर बिटिया।’

‘क्यों, कहो मा।’—एक हठी बालिका—सी वह जिद करने लगी।

‘बड़ी जिद्दी है तू सतिया। भोगे बैठी है, फिर भी पूछती है।’

‘क्या भोगे बैठी हूँ, मुझे कुछ भी याद नहीं।’

‘याद कैसे रहे! उस दिन तू अपने वश में थी कहाँ सरस्वती?’

‘कब, कौन-से दिन री अम्मा? सच मानो, मुझे कुछ याद नहीं।’

‘उस दिन तू बेहोश न हो गई थी। वह सब गन्धर्व का खेल था।

समझी?’

‘कैसा खेल मा?’—द्वार के बाहर से परम आमोद से पूछा कमलेश ने।

‘भीतर आओ कमल।’

कमलेश आकर माता के निकट बैठ गया।

यह कुछ न माननेवाला और सत्यान्वेषी युवक चाहे दिन भर कहीं भी रहे, शराब पिये, कुछ भी करे; परन्तु रात में घंटे भर वह माता के निकट बैठता ही था। चाहे कितना भी काम रहे, किन्तु घण्टे भर का समय उसका न टलता।

‘गन्धर्व ने कौन-सा खेल खेला अम्मा ?’—हँसकर कमलेश ने फिर अपना प्रश्न दुहराया ।

‘हँसता है कमला, किन्तु बात सब सच है । सोचो तो सही, उस दिन कैसा सर्वनाश हो जाता, यदि गन्धर्व सुरसतिया को न छोड़ता तो ? वह तो मैंने इष्ट-मन्त्र का जप कर लिया ।’

‘तो इन्हें गन्धर्व लगे थे ?’—परिहास से कमलेश के नयन हँसने-से लगे ।

‘लगेगा नहीं तो क्या ? एक तो ऐसी परी-सी लड़की, उस पर जवान । बेरा-कुबेरा बगीचे में घूमना कहीं अच्छा होता है ? जाने कब कैसी नजर लग जाय ।’

सविता गृहिणी के निकट जरा और खिसककर बैठी ।

अत्यन्त आग्रह से पूछा सविता ने—‘गन्धर्व कौन हैं मा ?’

‘स्वर्गलोक के वासी । कभी फूल की महँक लेने बगीचे में आ जाते हैं । और खूबसूरत लड़की की सुगन्ध जहाँ उन्होंने पा ली, बस मोहित हो गये । और फिर उस पर उनकी दृष्टि पड़ गई तो सर्वनाश ही हो गया ।’

‘दृष्टि पड़ने से क्या होता है मा ?’

‘उसे वह अपना कर लेते हैं ।’

‘तो इन पर गन्धर्व भी मोहित हो गये थे ? तब क्या कहना है । अब यह भी देव-देवी-सी पूजी जाने लगेंगी । है न सविता ?’

‘जाओ ।’—कहकर वह भाग गई ।

स्नेह-करुणा से गृहिणी उस ओर देखने लगी, जब तक कि वह दृष्टि के बाहर न हो गई ।

‘न जाने मेरी भोली सतिया किसके घर जायगी । हाँ बेटा, सुनो तो, लड़की सयानी हो गई । वर दूँ दो, कब तक उसे रखू ?’

वर ? कमलेश विचार में पड़ गया—यह अपनी-सी सविता पराई हो जायेगी ? इस भावना से उसका मन जाने कैसा करने लगा । अकारण ही वह उदास हो गया ।

‘सुनते हो कमला, कहीं अच्छा पात्र देखो, सुरसतिया के लिए मैं खर्च करूँगी । क्या करूँ, इसे बाहर जाने न देती, किन्तु ऐसे वंश में एक अज्ञात-

कुल-शील, विशेषकर अनाथ लड़की को बहू बनाना सम्भव नहीं। स्वर्ग में बैठे मेरे श्वसुर अभिशाप देंगे। उन्हें अपने सट्टन का बड़ा खयाल रहता था। और कहीं देखो कमल।’

‘मैं कहाँ देखूँ?’—अनमना-सा बोला वह।

‘तुमसे कुछ होने का नहीं।’—गृहिणी ने कुछ देर विचारा, फिर कहा—
पृथीश से इसकी शादी क्यों न कर दी जाय? पैसावाला है। पृथीश लड़का भी अच्छा है।

‘अच्छी बात है।’

‘इधर पृथीश जाने कब से नहीं आया। सुरसती के आने के बाद एक बार आया था। कहीं उससे झगड़ा तो तू नहीं कर बैठा?’

‘उससे भला मैं क्यों झगड़ने लगा? वह यहाँ नहीं है।’

‘नहीं है? तभी नहीं आया। मेरे हाथ के बनाये पुण और दही-बड़े उसे बहुत पसन्द हैं। बड़ी रुचि से खाता है। कहाँ गया है?’

‘क्वेटा। भूकम्प-पीड़ितों की सेवा के लिए।’

‘बस इन्हीं कामों में तो वह लुटा हुआ है। कब तक आयेगा?’

‘कल-परसों तक शायद आ जाये।’

‘ऐसी जल्दी क्या आयेगा।’

‘आना ही पड़ेगा। काँग्रेस की मीटिंग है न।’

‘अच्छा। एक बात और है।’

‘कहो मा।’

माता को इतस्ततः करते देखकर कमलेश विस्मित होने लगा।

‘मुझसे अब अकेला रहा नहीं जाता।’

‘और मैं जो हूँ।’

‘तू तो मेरा बेटा ही है, सतिया है बेटी। परन्तु अब एक तीसरी की भी जरूरत पड़ गई है।’—आदर-स्नेह से पुत्र की पीठ पर हाथ फेरती मा ने कहा।

‘तुम्हारी सुरसती है न।’

‘वह पराये घर चली जायेगी। लड़की कहीं अपनी हुई है? मैं तो

कमला, उन्हीं लोगों को पक्की बात दिये देती हूँ, जिससे अगले मास विवाह हो जाय। मेरा घर भर उठे।'

'परन्तु उसे तो तुम लिखी-पढ़ी लड़की बता रही थीं न ? और कालेज की शिक्षा से तुम्हें घृणा है। इसी कारण तुम उस लड़की को लाना नहीं चाह रही थीं।'

'फिर किया क्या जाय ? वैसी सुन्दर लड़की दूसरी मिली नहीं।'

'और वह आकर चप्पल फटफटाती तुम्हारे ठाकुर-घर में न जायेगी ?'—
कमलेश माता को चिढ़ाने लगा।

'ठाकुर-घर में उसे जाने क्यों दूँगी ?'

'ऐसा ?'—गम्भीर मुद्रा किये कमलेश कहने लगा—

'जाने कितने अण्डे और मुरगी उसने खाये होंगे। हाँ तो, जरा गङ्गाजल पिलाकर शुद्ध कर लेना। और सुनो तो मा, जब वह मुँह खोलकर तुम्हारे सामने आये, तब न हो तो तुम्हीं अपना मुँह ढाँक लेना। यही ठीक रहेगा। और...'

'चल, हट, चुप रह। जा यहाँ से।'

कमलेश हँसता हुआ जाने लगा।

गृहिणी ने कहा—चाहे कुछ भी हो, मैं वहीं पर बात पक्की कर लेती हूँ कमला।

'जैसी तुम्हारी इच्छा। मुझसे क्यों पूछती हो ? यह तुम्हारी है। तुम जानो और वह जाने। मैं तो तुम्हारी आज्ञा पालने के लिए सदा तैयार रहता हूँ। बस।'

गृहिणी ने तृप्ति की साँस खींची।

कमलेश चला गया।

[१३]

उस दिन 'मा-मा' पुकारता हुआ कमलेश जब-पहुँचा तो गृहिणी पूजा कर चुकी थीं।

'किसे लाया हूँ, देखो मा।'

सामने खड़ी थी सविता। पृथीश ने सविता को देखा और देखा सविता ने पृथीश को।

थोड़ी-सी हँसी, थोड़ा-सा कौतुक, थोड़ी-सी लज्जा, थोड़ा-सा विस्मय था उन दृष्टियों में।

सविता को स्मरण हो आया—इस व्यक्ति को इस घर में उसने एक बार और देखा था।

हठात् अपरिचित के सामने पड़ जाने की लज्जा से सविता लज्जावती लता-सी सिमट रही।

और पृथीश ने देखा पावन के दीवट-सी आयत लोचन की शान्त दृष्टि को—जरा सम्भ्रम, जरा-सी भक्ति, जरा श्रद्धा के साथ।

गृहिणी ने अत्यन्त स्नेह से प्रणत पृथीश के माथे पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया।

सविता से गृहिणी ने कहा—आसन ले आ बेटी, इन्हें पहचान गई न? पृथीश है। इसी की बातें तुझसे कहा करती हूँ। जैसा मेरा कमला है, वैसा पृथ्वी।

दोनों मित्र बैठ गये। माता बीच में बैठी। सविता जा रही थी, गृहिणी ने उसे भी बैठा लिया—शर्माती क्यों हो बेटी? यह कोई दूसरा थोड़े ही है, घर का लड़का है।

पृथीश स्मित हँसा।

‘बूढ़ी मा को छोड़कर कहाँ भागा-भागा फिरता है पृथ्वी?’

‘कवेटा गया था। और वहाँ तुम्हें ही तो अनेक रूपों में देखता था मा। मिट्टी, ईट, पत्थरों के ढेर के नीचे से, जब माँस का पिण्ड निकालता था, जब छितरे-छितरे शिशु के शरीर निकालता, किसी की आँख के स्थान में गड़हा, लोथ-सा कोई भयानक चेहरा, किसी दबे हुए मनुष्य का चूर्ण-विचूर्ण शरीर जब निकालता, तब तुम्हारी ही कल्याणमयी छाया मुझे कुछ कर सकने की शक्ति और प्रेरणा देती, मेरे अवश शरीर में ताकत भर देती। ऊपर से वर्षा, पृथ्वी का कम्प और अनशन-क्षिप्र धन-जन लुटे हुएों का आर्त

चीत्कार ! उन भयानक दृश्यों को देख सकने की शक्ति तुम्हीं तो दिया करती थीं मा !'

सत्यभामा के नेत्र छलछला उठे । साथ ही स्नेह-प्रेम से उस लडके के प्रति उनका जी भर उठा । आँसू छिपाने के बहाने सविता ने मुँह फेर लिया । और परिहास आकर कमलेश के कण्ठ ही से लौट गया ।

कमलेश जबरन हँसने की चेष्टा करने लगा—सविता, इसे जरा मिठाई खिला दो । वरना लूट-मार मचायेगा । ग्रेट वार से लौटा हुआ है । रसद लूटकर यह पक्का डाकू हो गया है ।

बात सविता को बड़ी अच्छी लगी । वह जरा और खिसककर बैठ गई ।

‘तो क्या मैं लुटेरा हूँ ?’

‘हो ही । तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा है सविता ? तो देखना, जरा देर में यह मिठाई की थाली खाली न कर दे तो कहना ।’

गृहिणी ने उठते-उठते कहा—क्यों उसके पीछे पड़ा है कमला । पृथ्वी जरा मिठाई चाहता है, यही न ? कहीं दूसरे के घर थोड़े ही खाता है । अपने घर चाहे वह कुछ भी करे । मैं उसकी भी मा हूँ न ?

‘तो सुन लिया ?’—पृथ्वीश ने आमोद से कहा ।

‘तुम दोनों की थाली परसाकर मैं भिजवाती हूँ । सतिया, पानी-वानी रखवा देना ।’

‘दही-बड़े हैं न ?’—पृथ्वीश ने पूछा ।

‘आज नहीं हैं । मैं क्या जानूँ कि तू आ रहा है । कल जरूर बना दूँगी ।’

‘अपने हाथ से बनाना ।’

‘अपने ही हाथों बनाऊँगी बेटा ।’ गृहिणी चली गई ।

‘तुम दही-बड़े बनाना नहीं जानती ?’—पृथ्वीश ने सविता से पूछा ।

सविता शर्म से सिमट रही ।

‘कहो न, जानती हो ?’

‘अम्मा से सीख रही हूँ । किन्तु उनकी तरह नहीं बनते ।’—जरा साहस कर वह बोली ।

यह सरल उत्तर पृथ्वीश को बड़ा अच्छा लगा ।

‘सीख जाओगी ।’

‘पुण बना लेती हूँ ।’

‘अच्छा ।’—मुँह पर विस्मय फैलाकर पृथ्वीश ने कहा । और इसी तरह धीरे-धीरे अपरिचय का संकोच हटने लगा ।

कमलेश दबी हँसी हँसने लगा ।

[१४]

वर्षा ऋतु की गहरी रात में सुप्त पृथ्वी के आँचल में पड़ी चाँदनी सिसक रही थी । न जाने कौन-सी व्यथित कहानी, बिछुड़े प्रेम की कौन-सी वह याद इस एकान्त में उसके आँसू बहाने में लगी थी । न जाने कितने पथिकों के पद-चिह्न उसके रजत-शुभ्र वसन पर अंकित थे । कितने ही चिता-भस्म के कण उसके तुषार-शुभ्र पद में लिपटे थे । कितनों की जीवन-वार्ता उसके शिगध हृदय में छिपी हुई थी । कितने ही आर्त चीत्कार उसकी नसों में लिपटे हुए थे । कितनी ही अभिसारिकाओं की नूपुर-भंकार उसके पायलों में चिपटी पड़ी थी । कौन जाने वह किसकी याद में सिसक रही थी ।

उस सोती रात में सविता का द्वार खुला । भारी देह-मन लिये वह बाहर आई । आँगन के केले के वृक्ष के नीचे बैठ गई । तब एक भी पखेरू नहीं बोल रहा था, एक भी पथिक राजपथ से नहीं चल रहा था, एक भी पत्ती नहीं डोल रही थी, एक भी भोंगुर नहीं गा रहा था । सिसक रही थी केवल चाँदनी और उसी रोने को हृदय में दबाकर सिसकने लगी सविता ।

उस विकल वेदना को देखकर चाँदनी अवाक् हो गई । केले के पत्तों से छनकर मुट्ठी भर चाँदनी सविता के सामने आकर स्तब्ध हो रही ।

‘वेदना का यह कैसा रूप है ? व्यथा के यह कैसे आँसू हैं ? सखी, सखी, बोल तो कुछ मुझसे ! पृथ्वी की आतुरता, पृथ्वी की हँसी-खुशी, प्रेम-अभिसार मेरी नसों में थिरका करता है । सखी-सखी, अनोखी रूपसी, बोल तो कुछ मुझसे ।’—पूछा उस मुट्ठी भर चाँदनी ने ।

किन्तु उत्तर देता कौन ? कदाचित् सविता ने वे प्रश्न सुने, न सुने । वह

वैसी ही बैठी रोने लगी। अपने उस लुट जाने की कथा वह सुनाती कैसे ? नारीत्व के ऐसे बड़े अपमान की खबर वह पृथ्वी को कैसे सुनाती ?

सविता ने आज कमलेश के विवाह की खबर सुन ली थी। उसके साथ ? नहीं, वह भाग्यवती नारी कोई दूसरी थी, वह नहीं। विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं। घर-मकान साफ हो रहे थे। चावल-दाल चुने जा रहे थे। सुनार के घर गहने बनने जा चुके थे। मनो मिठाई बन रही थी। रसगुल्ले, कलाकन्द आदि की कढ़ाइयों को पड़ोस के बालक-बालिका घेरे खड़े थे। विवाह और फिर अतुल धन के स्वामी, घर के अकेले लड़के प्रभु का विवाह। ऐसे विवाह में यदि समारोह का प्राचुर्य हो तो विस्मय की बात नहीं है। आडम्बर से कमलेश के विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं। और उस समारोह के अतल में दबी सविता निश्चिन्त होना चाह रही थी। किन्तु हो रहा था उसका उलटा, छोटे-बड़े सब कामों में उसकी पुकार थी।

जीवन में जब ऐसे बड़े असामञ्जस्य का उसे सामना करना पड़ गया, तो पहले वह शव-सी स्पन्दन-हीन हो गई। जीवन के उस विचित्र परिहास की वेला में सविता शव-सी अकड़ी रह गई।

फिर उसके बाद उसे अपने इस छोटे जीवन से समझौता करने की जरूरत पड़ गई। समझौता ? किन्तु किस बात का समझौता वह करती ? लाभ का अंश तो उसका खाली था न ? बिल्कुल खाली। वहाँ केवल बना था— एक साफ-सुथरा शून्य और बस शून्य ही ! व्यय करने बैठकर, दान के गर्व से, लुट जाने की खुशी में वह छोटी लड़की सम्पूर्ण लुट गई थी। इसकी खबर जब उसे लगी, तब करने-कराने को कुछ शेष बच नहीं गया था। एक और अपमान का काला बादल, दूसरी ओर लज्जा की घनी भाड़ी। इन दोनों के बीच में खड़ी थी वह—लुटी हुई सविता। इसके बाद वह रात की चुप्पी में बैठी रो पड़ी।

दूसरे दिन कमलेश के घर शहनाई बज उठी। आत्मीय-परिजन से घर भर गया।

‘सुरसतिया-सुरसतिया !’—पुकारती हुई सत्यभामा सविता को हिलाने लगी।

केले के नीचे पड़ी-पड़ी सविता कब सो गई थी, उसे कुछ भी पता नहीं। गृहिणी की पुकार सुन व्यस्त भाव से सविता उठकर बैठ गई। दिन निकल चुका था।

सत्यभामा ने उसे गोद में उठा लिया—मेरी लाड़िली बिटिया, यहाँ क्यों पड़ी है? बुखार तो नहीं आया?

‘अच्छी हूँ अम्मा।’—लजाकर वह बोली। हाथ-मुँह धोकर बाथरूम से लौटता हुआ कमलेश सामने आकर खड़ा हो गया।

‘बात क्या है?’ कमलेश ने पूछा।

‘यहाँ पड़ी सो रही थी सुरसती। तुम्हे कौन-सा दुःख है बिटिया, जो रेशम की चादर छोड़कर धरती में पड़ी थी?’

सविता को रोना आ गया। सत्यभामा से लिपटकर वह रो पड़ी।

कमलेश हँस न सका, यद्यपि वह कुछ परिहास करना चाह रहा था। कमलेश वहीं बैठ गया और सविता के सिर पर हाथ फेरने लगा। अधिक आश्चर्य की बात यह है कि किसी के आँसू ने कमलेश के मन पर कण्ठा का पहला कण भर दिया—प्रथम बार। आर्द्रस्वर से उसने पूछा—सविता, जी खराब लग रहा है? वैसा... उस दिन जैसा?

‘वही बात है वेटा, मेरी सतिआ का पीछा उस गन्धर्व ने छोड़ा नहीं।’—गृहिणी ने उत्कण्ठा से कहा।

सविता कुछ सहमी-सी हँसने का व्यर्थ प्रयास करती हुई बोली—नहीं अम्मा, यहाँ बैठी-बैठी सो गई थी। मैं अच्छी हूँ। देखती नहीं हो?

‘अच्छा, ऐसा कहो कि यहाँ बैठकर उस गन्धर्व की याद की जा रही थी।’—परिहास करने से कमलेश का जी हलका पड़ गया। और अपने ही परिहास से वह हँसने लगा। परन्तु सविता को रोना आ गया। आँसू छिपाती वह उठकर भागी। सत्यभामा उदास, चिन्तित मुख से उसके पीछे-पीछे चली।

[५]

‘सविता—सविता!’—पुकारता हुआ पृथीश कमरे में, दलानों में सविता को ढूँढ़ता फिर रहा था। कमलेश का घर बिजली के प्रकाश से उज्ज्वलतर हो

रहा था। भीतर-बाहर एक व्यस्तता थी। बारात निकालने के काम में सब व्यस्त थे। बाजेवाले बाजा सँभाल रहे थे। गाड़ी-घोड़ा, मोटर आदि फूल से सजाये जा रहे थे। चाँदी के कलश पर दीप उजियारे सोहागिन स्त्रियाँ खड़ी थीं।

पृथीश सविता को ढूँढ़ता फिर रहा था। अन्ततः भण्डार के कोने में वह मिल गई—कहाँ छिपी बैठी हो सविता ? यहाँ मैं पूरे घर में भटकता फिर रहा था।

उस लड़की से मित्रता करने में पृथीश को देर न लग पाई थी। विशेषतः विवाह के काम-काज में वे दोनों एक-दूसरे के निकटतर मित्र बन बैठे थे, शायद इसकी खबर उन्हें भी न रही हो।

कभी-कभी वह लड़की ऐसी अपनी बन जाती, ऐसे शिशु-से सरल प्रश्न करने लगती कि पृथीश मुग्ध हो जाता, उसे पराई सोचने का वक्त न पाता और तब पृथीश परम आत्मीय की तरह युद्ध आदि की कथा उत्साह से उसे सुनाने लगता।

‘जाने तुम कहाँ ढूँढ़ रहे थे। मैं तो कब से यहाँ बैठी हूँ। बादाम काट रही हूँ।’

‘इतने बादाम क्या होंगे ?’

‘खीर में पड़ेंगे।’

‘पीछे काट लेना। या और कोई काट लेगा। अभी चलो। जल्दी उठो सविता।’

‘चलो, कहाँ चलना ?’

‘दूल्हे को सजाना है ! उसके माथे पर चन्दन कौन लगायेगा ? मौर-और क्या सब बाँधना है, बड़ी भंभटें तो हैं। चलो, उसे सजा दो।’

‘मैं ?’ सविता एकदम स्तब्ध हो गई—आज उसे यह क्या करने के लिए कहा जा रहा है ? परिहास है ? परिहास और ऐसी परिहास ! अट्टल का यह कैसा परिहास है ?

किन्तु वह स्वयं अपने जीवन के साथ ऐसा रूढ़, कुत्सित परिहास कैसे करे ? अपने ही पिया को अपने हाथों दूसरी स्त्री के लिए मौर कैसे बाँधे ?

जो एक दिन अनायास उसी का होनेवाला था, जिसकी आशा में वह वासर सजाये बैठी थी, जिसका चित्र उसके रोम-रोम में अंकित है, उसी प्रिय को वह स्वयं दूसरी को कैसे लुटा दे ?

सविता का चौकना पृथीश से छिपा न रहा। वह सिहर उठा। अवाक् पृथीश उसका मुँह निहारने लगा।

हठात् सविता सहमी। प्रायः दौड़ती हुई वह चली। कहती गई—चलो, देर हो रही है। मेरे बिना और कौन उन्हें मोर बाँध सकता है ?

सविता का आचरण पृथीश को जाने कैसा अद्भुत-सा लगने लगा। वह भाराक्रान्त चित्त से उसके पीछे-पीछे चल पड़ा।

छः बज चुके थे। कमलेश कुर्सी पर बैठा था और उससे बिलकुल टिक-कर खड़ी थी सविता। निविष्ट चित्त से सविता कमलेश के ललाट पर श्वेत चन्दन की बिन्दी लगा रही थी ; चन्दनपूर्ण चाँदी का कटोरा बायें हाथ में थामे थी और बारीक सीक दाहने में।

‘अब तो छोड़ दो, घण्टे भर से यों बैठा-बैठा मैं अकड़ गया हूँ।’—अस-हिष्णु कमलेश ने कहा।

‘ठहरो-ठहरो। हिलो मत। लो, खराब हो गया न ? सब बिगड़ गया।’

‘बिगड़ गया तो जाने दो।’

‘सीधे बैठते हो कि बुलाऊँ मा को ?’—भुँझलाकर सविता ने कहा।

मा के नाम से कमलेश शान्त हो गया। परिहास-तरल स्वर से बोला—चोर की सजा तो दे रही हो। किन्तु मैं भी बदला लिये बिना छोड़ूँगा नहीं। तुम्हारे दिन भी दूर नहीं हैं।

बात छोटी और सहज थी, किन्तु उस छोटी बात का पराक्रम छोटा न रह सका। सविता का हाथ अचानक काँपा। उस कम्पित हाथ से कटोरी उसके वस्त्र पर गिर पड़ी और सारा चन्दन फैल गया।

‘अच्छा हुआ।’—कमलेश जोर से हँसा।

विवर्ण मुख से सविता ने उसे एक बार देखा, फिर फूल के हार और गजराँ को उठाकर उसे पहनाने लगी।

‘किसी तरह चन्दन से पिण्ड छूटा तो अब गजरे उठा लाई’। क्या मैं कोई पहाड़-पर्वत हूँ ! इतने गजरे कहाँ टूँ सोगी !’

‘सभी पहनने पड़ेंगे ।’

‘तुम्हारे कहने से ? जाओ, नहीं पहनता ।’

‘मा को बुलाती हूँ ।’

सविता को जाते देखकर कमलेश ने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया—
जाती कहाँ हो ? हर वक्त मा की घुड़की । ठहरो, पहले मजा चखाऊँ तुम्हें ।

उस स्पर्श से सविता की सुध जाती रही । वह चित्र की भाँति खड़ी रह गई । और कमलेश विजय-गर्व से अपने गले से हार उतार-उतारकर उसे पहनाने लगा । बाहर शहनाई अपनी धुन में अलाप रही थी । द्वार पर स्त्रियाँ मंगल-गीत गा रही थीं । ठाकुर-घर में सान्ध्य शंख बज उठा । और तब सविता सचेतन होकर खड़ी हो गई । विजित गर्व से सविता की आँखें हँस पड़ीं । तृप्ति की पहली साँस निकली । गले से पुष्पहारों को उतारकर उसने कमलेश के गले में डाल दिया, केवल बेल के गजरे को अपने कण्ठ में रहने दिया । उसके बाद कमलेश को उसने प्रणाम किया ।

‘और यह क्या हुआ ?’—कमलेश वास्तविक विस्मय से कह उठा ।

स्मित हास्य से सविता का मुँह उज्ज्वल हुआ । बोली वह कुछ नहीं । अकम्पित हाथों से उसने मौढ़ बाँधा, फिर चल दी ।

‘सविता, ठहरो जरा ।’—कमलेश ने पुकारा । किन्तु वह चली ही गई । पीछे लौटकर देखा तक नहीं ।

बाहर शहनाई वैसे ही बज रही थी । स्त्रियों का गान उद्दाम था, शंख-नाद विराम-हीन था ।

[१६]

बिजली के प्रकाश में कमलेश का शयनकक्ष चमक रहा था । चहुँओर के बड़े दर्पणों के ऊपर पुष्प के तोड़े रखे हुए थे, पलंग पर फूल की सेज । ताजे फूल की गन्ध से कमरा सुगन्धित हो रहा था । कमरे के कोने-कोने में जाने कितनी सेन्ट की शीशियाँ खाली कर दी गई थीं । बिछे हुए गलीचे से सेन्ट

की तेज महक फैल रही थी। कीमती कोचों पर मखमल के गद्दे। कमरे के चहुँओर पुष्पहार सुरुचि के साथ लटकाये गये थे। पलंग के पास एक छोटा संगमरमर का टेबल, उस पर चाँदी की सुराही, एक चाँदी का गिलास। चाँदी की रकेबी में इलायची, लौंग, गुलाब-जल में बसे हुए पान के बीड़े पड़े सूख रहे थे। फूलदान पर रखा गया था गुलाब का तोड़ा।

कमरे की वायु में यौवन का कम्पन हिलोरें मार रहा था और उस कम्पन को हृदय में लिये सोहागरात को सोहागिन वधू रूपरेखा कोच पर बैठी थी। उसके स्वप्नमय नेत्रों में खुशी न समा रही थी, अधर के पान की ललाई पर हँसी न समा रही थी।

रेखा—रेखा, रूपरेखा। जय-जयवन्ती की चाल-सी रेखा—रूपरेखा का भानु-सा उत्तम रूप, सुगठित यौवन की पूर्ण छवि हृदय पर अंकित किये दर्पण उसकी आरती उतार रहे थे। रेखा के मद-भरे नयन कभी उधर उठ जाते, कितनी ही अनिन्द्य सुन्दरी चहुँओर के दर्पणों से भाँकने लगतीं। सिर का हीरकमुकुट चमक उठता; कण्ठ का हीरकहार, कान के कुण्डलों की दीप्ति दृष्टि को अवरुद्ध कर देती।

रूप—रूप, ऐसा रूप! उस रूप को देखकर स्वयं अपने आप रेखा के नेत्र झुलस-से जाते। गर्विता रूपरेखा के मन में एक अनोखा पुलक व्याप जाता। कमरे की वायु में रूप-यौवन हिलोरें मारता और उस रूप के मेला में रूपरेखा अपने को खो बैठती।

उसके दीर्घ दिनों का सपना आज सफन था। कौमार्य, रूप, यौवन, प्रीति, प्रेम वह अपने प्रियतम को न्योछावर कर चुकी थी। अब केवल प्रतीक्षा थी—प्रीतम के दिये प्रेम को दोनों हाथों से समेट लेने की। आकुल-आग्रह से वह बाँह बढ़ाये बैठी थी।

द्वार खुला। खटपट शब्द करता हुआ कमलेश पहुँचा। उसकी आकृति में परिवर्तन का लेश-मात्र नहीं था। रूपरेखा को देखकर कमलेश जरा विस्मित हुआ, न हुआ, पलङ्ग पर बैठ गया।

‘तुम यहाँ क्यों बैठी हो रूपरानी ? नहीं-नहीं, क्या नाम है तुम्हारा ? भूल गया ।’ असङ्कोच कमलेश ने कहा ।

प्रश्न सुनकर रूपरेखा—सुगायिका, विदुषी, एम० ए० रूपरेखा विमूढ़-सी रह गई ।

अपनी बातों में मस्त कमलेश कहने लगा—नींद नहीं आई ? तो बैठो । आज किताब न पढ़ूँगा ? बातें ही करूँगा । नाम तुम्हारा भूल गया । अच्छा, तुम मन्त्र-तन्त्र, दान, विवाह आदि अनुष्ठानों पर विश्वास करती हो ?

शान्त स्वर से वह बोली—मेरा नाम रूपरेखा है । हाँ, मैं विश्वास करती हूँ ।

‘एम० ए० पास किसी स्त्री के मुँह से ऐसे शब्द निकलना हास्यजनक नहीं तो विस्मय की बात जरूर है । मैं इन नकली चीजों को सह नहीं सकता ।’

‘नकली ? परन्तु यदि हमें पृथ्वी के जीवन में बसना है तो उसकी सत्ता को भी मनना होगा ।’

‘और यदि मैं उसकी सत्ता न माननेवाला होऊँ ?’

विस्मय से उसने पति की ओर देखा और फिर देखा । उत्तर देने के लिए उसका जी चाहने लगा, किन्तु फिर भी वह चुप रह गई । सोहागरात की वह सोहागिन वधू प्रथम मिलन की बेला में पति से बहुत निर्लज्जता कर चुकी थी—चाहे इच्छा से हो या अनिच्छा से । प्रथम मिलन की बेला में ऐसी भावना उसके मन में नहीं थी । पति का आचरण उसे जाने कैसा अद्भुत-सा लगने लगा ।

कमलेश ने पूछा—कहो, क्या उत्तर देती हो ?

‘फिर ऐसा कहिए कि आप अपनी सत्ता भी नहीं मानते ।’—धीरे से रूपरेखा बोली ।

‘मैं तो सत्य का पुजारी हूँ । सब कुछ अपनी आँखों देखे बिना किसी पर विश्वास नहीं करता ।’

‘और अपने ऊपर ?’

‘कुछ नहीं, किसी पर नहीं । मैं स्वयं यह नहीं जानता कि मैं हूँ कौन ? पहले अपना परिचय पाना चाहता हूँ । यदि मैं अपने को नहीं जानता तो

दूसरे को कैसे जान सकता हूँ। आज ही की बात लो। कुछ तन्त्र-मन्त्र, पूजा-जाप, नियम-कानून कर दिया और मुझसे और तुमसे कह दिया गया कि हम दोनों पति-पत्नी हैं। एक दूसरे के अधिकारी हैं और जीवन भर एक दूसरे को प्रेम करते रहेंगे। यह पागलों का प्रलाप नहीं तो क्या है ?

‘प्रलाप ? किन्तु इसी प्रलाप पर इतने लोग जी रहे हैं और हृदय से उसे मानते हैं।’

‘क्या मानते हैं ? शायद मानते हों। परन्तु यह भी कौन कह सकता है कि वह मानना उनका भौतिक है, आन्तरिक नहीं ? तुम्हीं से पूछता हूँ, क्या तुम्हीं किसी दिन मुझसे प्रेम कर सकोगी ?’—इस अद्भुत प्रश्न को सुनकर रेखा ने एक बार मुँह उठाया। शायद सङ्कोच किया, न किया, फिर दृढ़ स्वर में बोली—‘क्या इसमें कोई अचम्भे की बात है ? जो स्वाभाविक है वह होगा ही।’

‘क्या होगा ? कौन-सी बात स्वाभाविक है ?’

‘यही प्रेम की।’

‘प्रेम की ?’

‘हाँ, प्रेम की। दुनिया के जल-वायु में यह जो प्रेम की एक लीला-चञ्चल गति है—इसे कौन अस्वीकार कर सकता है ? और दुनिया ही का एक जीव उससे कैसे अछूता रह सकता है ?’

कमलेश उच्च स्वर से हँसा—‘पहले यह तो कहो कि प्रेम है किस जीव का नाम ?’

यह व्यक्ति कहता क्या है ?—विराग-वितृष्णा से रूपरेखा ने नेत्र फेर लिये।

कमलेश वैसे ही हँसने लगा—‘चिढ़ती क्यों हो ! प्रेम कोई विचित्र और श्रद्धेय वस्तु नहीं है। वह है कवि की कोरी कल्पना, भावुक की मूर्ख-भावना, बस।’

रूपरेखा उठकर खड़ी हो गई। गर्व से बोली—‘पहले मैं आपका प्रश्न नहीं समझ सकी थी। नहीं, मैं आपसे किसी दिन प्रेम नहीं कर सकूँगी। अच्छा तो...

कमलेश के कान में ये शब्द खटके-से। उसे लगा, यह नारी जबरन ही उस पर जय पाना चाहती है। उसने अच्छी तरह रूपरेखा को देखा। सिहर उठा—

बाप रे, यह कैसा ज्वलन्त रूप है ? देर तक वह उस ओर देख भी न सका । जाने एक कैसी अस्वच्छन्दता लगने लगी ।

‘चलीं ? नाम तो कहती जाओ ।’

‘आप भूलते हैं, कहा न मैंने, नाम रूपरेखा है ।’—वैसे ही गर्व से सिर हिलाकर वह बोली ।

‘हाँ-हाँ, यही है । मैं भूल गया था । तो रूपरेखा, जा कहाँ रही हो ?’—इस नारी से बात करने की इच्छा कमलेश को हो रही थी । उसने उठकर आलमारी खोली । शराब की बोतल निकाली और थोड़ी-सी गिलास में ढालकर पी ली ।

यह सब देख-सुनकर रूपरेखा के नेत्र में घृणा घनी हुई ।

‘नींद आ रही है । दूसरे कमरे में जाकर सोऊँगी ।’—रूपरेखा ने कहा ।

‘जाओ, सो रहो । मैं अभी तीन बजे तक पढ़ूँ गा ।’

चलते-चलते रेखा रुकी—और यों ही शराब पीते रहेंगे ? अपने अनजान में उसने पूछा ।

‘रात में थोड़ी-सी शराब पी लेता हूँ, जिससे देर तक पढ़ सकूँ । कोई तकलीफ नहीं होती ।’

रूपरेखा द्वार तक चली गई और उसे खोलना चाहा । किन्तु द्वार खुल न सका । बाहर से जंजीर चढ़ी हुई थी । संकट में पड़ गई रूपरेखा । वह कमरे से निकल भागना चाहती थी, किन्तु पृथ्वी से छिपाकर ।

किसी को पुकारकर, साक्षी मानकर अपने नारीत्व की ऐसी लांछना, ऐसा रूढ़ अपमान दिखलाने में उसका आत्माभिमान सुन्न हो रहा था । अपमान, लज्जा से देह-मन आच्छन्न-सा हो रहा था । सोहागरात की रानी सोहागिन का यह निर्यातन लोकनेत्र से यदि छिप सके तो उसके लिए वह अपना सर्वस्व लुटा देने के लिए प्रस्तुत थी ।

कमलेश का ध्यान उस ओर गया । बोला—बाहर से दरवाजा बन्द है ? तो पलंग पर सो रहो, मैं कोच पर बैठा पढ़ता रहूँगा ।

रेखा चुपचाप लौटी, कोच पर लेट रही ।

‘वहाँ नहीं, पलंग पर सो रहो।’

‘नहीं।’—दृढ़ स्वर से रूपरेखा ने कहा, यहीं आराम से सो रहूँगी।

रेखा की जब आँख खुली तब बाहर भोर की चिड़ियाँ बोलने लग गई थीं। कमरे में एक हलका प्रकाश था। उस प्रकाश में कमरे की बिजली मलान हो रही थी। सवप्रथम उसकी दृष्टि पलंग पर सुप्त पति पर पड़ी। प्रशस्त हृदय पर एक मोटी पुस्तक पड़ी थी। सुन्दर मुख पर मूँछें तनो हुई थीं। प्रातः की सुहावनी घड़ियों में एक राजकुमार-सा लग रहा था उसका पति। मुग्ध आग्रह से वह जाने कब तक खड़ी देखती रही। उसका पति, उसका राजकुँवर। हाँ, उसी का अपना राजकुँवर। उसका ? व्यथा-दर्द से रूपरेखा के नेत्र भर आये।

उसका ? नहीं नहीं, उसका कोई नहीं। कोई नहीं। उसके कौमार्य की प्रथम आरती कदाचित् इसी तरह सार्थक थी।

वास्तव जो था वह मिथ्या हो गया और मिथ्या हो गया अपना। तो इस मिथ्या ही को तो उसे अपनाना था। क्यों ? क्यों, सो वह नहीं जानती। जानती थी इतना कि इसे वह फेंक भी न सकेगी।

गर्विता रूपरेखा लौटकर खड़ी हो गई। आईने की ओर दृष्टि पड़ गई। हजारों रूपरेखा वहाँ व्यङ्ग-कौतुक से मुस्कुरा रही थीं। उसे लगा, उस व्यङ्ग की मुस्कान में पिसकर अभी-अभी उसकी सत्ता निश्चिह्न हो जायेगी। द्वार खोलकर रेखा भागी।

[१७]

लांछित अभिसार की प्रथम रात्रि में रेखा ने जब आँख खोली तो पाई घर भर के व्यक्ति की उद्वेगपूर्ण, कुतूहल की भरी व्यग्र दृष्टि उसी पर।

धूप अच्छी तरह से फैल चुकी थी। रात भर की जागी रूपरेखा के निद्रालु नेत्र उस तीखे प्रकाश को एकाएक सह न सके। वह आँखें मलती हुई भू-शय्या से उठकर बैठ गई। तब भी उसकी आँखों में नींद भरी हुई थी। पति के कमरे से जब वह निकलकर आई, तब अच्छी तरह से प्रकाश न हो पाया था। चहुँओर कमरों के द्वार रुद्ध थे। घर का एक भी प्राणी जागा नहीं था। तब रूपरेखा उसी बड़ी दालान के कोने में बैठ गई और बैठे-बैठे

वहीं जमीन पर लेट गई थी। उसके बाद वह गम्भीर निद्रा में आच्छन्न हो रही। यह सब उसे कुछ स्मरण नहीं।

सत्यभामा, घर के दास-दासी और रूपरेखा के नैहर की दासी सब उसे घेरकर खड़ी हो गई थीं। सविता भी खिचती हुई चली आई।

रेखा के विद्यालय की पुरातन दासी जानकी ने लपककर उसे गोद में उठा लिया। बोली—राजदुलारी, तेरी क्यों ऐसी दशा हो रही है? मखमल की सेज जिसे गड़ती थी वह आज जमीन पर कैसे सो रही है? साहब सुनेंगे तो क्या कहेंगे? कहो दीदी बाई, तुम्हें क्या दुःख है?

देख-सुनकर गृहिणी अवाकू हो गई।

रूपरेखा सहमकर उठ बैठी। सिर का अवगुण्ठन जरा खींच लिया। फूल के गहनों के बासी फूल उसकी देह से भरकर गिरने लगे। हीरे की चूड़ियाँ, ब्रॉकेट की साड़ी सूर्य की सुवर्णकिरण-सी चमकने लगी, उस ओर उसने देखा, शायद न देखा। अवहेलना के साथ रेखा धीरे से बोली—कमरे में गरमी थी सो मैं यहाँ सो रही। एक जरा-सी बात पर इस तरह हल्ला मचाने की जरूरत नहीं।

परन्तु इस घुड़की से जानकी दबनेवाली कब थी? विशेषतः यहाँ आकर कल से उसे अनेक असुविधाएँ भोगनी पड़ी हैं। ये लोग बड़े आदमी भले हों, परन्तु इन लोगों का चाल-चलन, आचार-नियम उसे बिल्कुल पसन्द नहीं था। उसके मालिक के घर कैसे सभ्य-रीति से वस्त्र पहनते हैं। लोग उन्हें 'साहब' कहते हैं। क्यों न कहें? वह रहते भी हैं साहबों-जैसे। अंग्रेजी ढंग से कितनी अच्छी तरह से रहते हैं। पहली बात, कल मोटर पर से उतरते ही रूपरेखा के पैर से जूते उतार लिये गये। उसके उपरान्त मुँह न ढाँकने से लेकर वस्त्र पहनने तक की तीव्र समालोचना हुई। गृहिणी ने समालोचना न की तो इससे क्या? दूसरी स्त्रियों ने तो की। और जानकी ऐसी मूर्ख नहीं है। क्या वह समझती नहीं है कि बिना मालकिन का इशारा पाये वैसी समा-लोचना वे नहीं कर सकती थीं? वह समझती है। कैसी असभ्य हैं यहाँ की स्त्रियाँ! सब खाली पैर रहती हैं, छिः-छिः। भोजन—सो भी टेबल पर नहीं,

जमीन पर बैठकर। केवल कमलेश टेबल पर भोजन करता है, सो भी रोज नहीं।

जानकी ने कहा—छिपाओ नहीं। मैं अभी जाकर साहब से यहाँ की सब बातें कहती हूँ। कल रात जमाई-बाबू से जरूर कोई बात हो गई होगी। यहाँ पर सब एक-से तो हैं।

‘नौकरानी हो, नौकरानी-सी रहो। मेरे घर की बहू है, उसे मैं आदर से लाई हूँ, उसकी बातें मैं समझूँगी और वह समझेगी। तुम बोलनेवाली कौन होती हो?’—गृहिणी ने गरजकर कहा।

‘क्यों नहीं माजी? साहब ने मुझसे कह दिया है—मेरी रूप को देखती रहना जानकी। इसे जरा भी तकलीफ न होने पाये।’

‘यदि ऐसा था तो लड़की को घर ही में रखते।’—परिहास से गृहिणी ने कहा।

घर की पुरानी दासियों ने ऐसे अवसर को न खोया। वे सब रूपरेखा को घेरकर खड़ी हो गईं। कहने लगीं—दुलहिन, तुम्हारे बाप भी साथ हो लेते तो अच्छा था। चले क्यों न आये यहाँ? हमारे मालिक के घर गज भर जगह की कमी नहीं है। अब मोटर भेजकर उन्हें भी बुला लो।

रूपरेखा ने बड़ी-बड़ी आँखों को खोलकर ताच्छल्य से उन सबको देखा, वैसे ही बोली—जाओ, तुम सब अपना-अपना काम देखो। और तुम जानकी, घर वापस जा सकती हो। मुझे यहाँ किसी की जरूरत न पड़ेगी। फिर सास की ओर मुँह फेरकर कहा—मैंने यहाँ का बाथरूम नहीं देखा अम्मा, जरा दिखला दीजिए।

यद्यपि वचन यथेष्ट विनय से कहे गये थे, तथापि जाने क्यों सत्यभामा सन्तुष्ट न हो सकीं।

ज्वलन्त शिखा-सी रूपवती वधू का रूप, चाल-चलन, बोलना उन्हें खटकने-सा लगा। कहीं पर एक भारी भूल-सी उन्हें लग रही थी। नववधू का ऐसा असंकोच बर्ताव उन्हें अद्भुत लग रहा था।

‘सुरसती, ले जा बिटिया, दुलहिन को घर-मकान दिखला दे। और कपड़े-वपड़े बदलवा दे।’—सहमकर गृहिणी ने कहा।

भीरु पक्षी-सी सविता गृहिणी का आँचल पकड़कर खड़ी हो गई। उस रूपवती नारी के सांनिध्य से वह दूर भागना चाह रही थी, डर-सा लर रहा था।

उसे देखकर सत्यभामा मधुर हँसी—दुलहिन का हाथ पकड़कर लेती जाओ परन्तु किसी का हाथ पकड़ने की जरूरत सविता को न पड़ी। रूपरेखा आगे-आगे चल पड़ी—मानों पथप्रदर्शक वही हो।

सविता उसके पीछे ऐसी चली कि अभी-अभी गौने से आई बहू हो सविता का जी धड़क रहा था। हाथ पैर ठण्डे पड़ रहे थे। यदि उसका वश चलता तो शायद वह भाग जाती।

‘खाली पैर कहाँ चलीं दीदी बाई? पैर में छाले पड़ जायेंगे। कभी ऐसी चली भी हो?’—जानकी ने रखे स्वर से आवाज लगाई।

यह सब देखकर गृहिणी सिर पर हाथ धरे बैठ गई। आत्मीय-अनात्मीय मुँह फेरकर हँसने लगे।

चलते-चलते रेखा ने कहा—जब जरूरत पड़ेगी, तब मैं स्वयं पहन लूँगी। तुम घबराओ मत जानकी।

जाने कितने कमरों, दालानों को पार करती रूपरेखा एक कमरे में हठात् लौटकर खड़ी हो गई, पूछा—यहाँ का बाथरूम कितनी दूर पर है?

‘तुम तो उसे पीछे छोड़ आई।’

‘फिर आपने बतला क्यों न दिया?’—रूपरेखा विस्मित हो रही थी।

‘मैं क्या करती। तुम तो चली ही आई बहन।’

रुष्ट होने जाकर भी रूपरेखा मुस्करा पड़ी—‘मैं यहाँ नई आई हूँ और आपका यह घर ठहरा। मैं क्या जानूँ कि कहाँ बाथरूम है?’

‘मेरा घर?’—मानों चिन्तित भाव से सविता ने कहा—‘मेरा घर तो बिक गया।’

‘मैं समझी नहीं, आप क्या कह रही हैं?’

‘कहा न कि घर बिक गया।’—सविता का भय, सङ्कोच धीरे-धीरे हट रहा था। दूर से रूपरेखा जैसी तीक्ष्ण ग्रीष्म की दोपहरी-सी लग रही थी, निकट से उसने उसे वैसा तो पाया नहीं, वरन् पाया एक अपनी-सी, मिलती-जुलती, नारी को।

‘और यह घर?’

‘यह घर?’—अब सविता विचार में पड़ी। वह कहे क्या? यह घर भी तो अब उसका पराया नहीं रहा न। सोच-विचारकर वह बोली—यह भी मेरा अपना है।

ऐसी स्थिति में भी रूपरेखा हँसे बिना न रह सकी। कहा—सच मानिए, आप एक पहेली-सी लगती हैं।

‘सो क्यों? तुमने पूछा—यह घर किसका है? मैंने कहा—यह भी मेरा है। क्योंकि यह भी मेरी मा का है। अब कहो तुम, इसमें बूझने की बात क्या है?’ सविता चिढ़ रही थी।

‘तुम तो चिढ़ती हो।’

‘मैं? नहीं रेखा दीदी।’ उसने रेखा का हाथ पकड़ लिया—यदि मैं तुम्हें दीदी कहूँ?

सविता उस जाति की नारी थी, जो बिना विचारे पराये को अपना समझ लेती है और जिस परिमाण में वह किसी पर घृणा करती है, ठीक उसी परिमाण में उस पर प्रेम करते भी देर नहीं लगती।

विस्मय से रूपरेखा सविता को निहारती हुई बोली—यदि आप ऐसा करें तो मैं बहुत सुखी होऊँगी। मैं आपको क्या कहूँ?

यद्यपि रूपरेखा की मार्जित रुचि के साथ इस मूर्ख, अशिक्षित लड़की की जरा भी समता नहीं थी, फिर भी सविता में कोई ऐसी वस्तु थी, जिसकी अवहेलना रूपरेखा नहीं कर सक रही थी।

यदि उस अशिक्षिता और कुरुचि के भीतर की सरल सहृदयता ने रूपरेखा के मन पर जरा सम्भ्रम जगा दिया हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

‘अच्छा तो रेखा दीदी, तुम मुझे सविता कश करो। तुम मुझसे बड़ी हो या छोटी ?’

‘तुमसे जरूर बड़ी हूँ और जब सविता कहना है, तब आप कहना भी नहीं सोहता।’

सविता खिलखिला पड़ी — अब तक तुम मुझे आप कह रही थीं क्या ? मैंने उधर ध्यान न दिया। अत्यन्त कौतुक से रूपरेखा उसे देखने लगी। देर के बाद द्विधा-जड़ित स्वर से पूछा—सच कहती हूँ सविता, तुम्हारी बातें मुझे अद्भुत-सी लगती हैं।

‘मेरी बातें ? ऐसा क्यों रेखा दीदी ?’

‘सो मैं क्या जानूँ। अभी कह रही थीं—यह घर तुम्हारा नहीं है। फिर बोलो—यह तुम्हारा है।’

‘ठीक कहा मैंने। पहले यह घर मेरा नहीं था। जब यहाँ आकर रहने लगी, तो मेरा हो गया।’

‘यहाँ आकर रहने लगी ? तो क्या मेरी सास तुम्हारी मा नहीं हैं ?’

‘मा नहीं तो कौन हैं ?’—सविता विस्मित थी कि उस जैसी एक साधारण-सी लड़की की बातें यह एम० ए० विदुषी समझ क्यों न सक रही है ?

‘फिर वैसी ही बातें करने लगीं ! पहले के घर में जब तुम रही, तब यह अम्मा कहाँ थी ?’

‘मैं क्या जानूँ। रही होंगी इसी घर में।’ घबराकर रूपरेखा उसका मुँह निहारने लगी। उसे अपनी इस ननद के उन्मादी होने का सन्देह होने लगा। वह सविता को कमलेश की बहन समझ रही थी।

‘अब तो साफ-साफ समझ गईं न रेखा दीदी ?’

‘नहीं। पहले की मा कहाँ हैं अब ?’

प्रश्न सुनकर सविता ने खिड़की से झाँककर आकाश के प्रति देखा। बोली—अभी वे न दिखेंगी। रात में दिखला दूँगी।

इस बार रूपरेखा निस्सन्देह हो गई—हाँ, अवश्य यह पागल है। सहसा रूपरेखा के मुँह से निकल पड़ा—भाई-बहन दोनों एक-से हैं।

बड़ी-बड़ी आँखें उठाकर सविता ने रेखा की आँखों में गड़ा-सी दी—
‘किसकी बातें कह रही हो दीदी ?’

‘कुछ नहीं ! कहती थी सविता, तुम मुझे भाभी क्यों न कहो ?’

सविता के कुछ कहने से पहले कमरे में सत्यभामा पहुँच गई—अब तक नहाना-धोना कुछ न हुआ ? खड़ी बातें कर रही हो ?

सविता सत्यभामा के निकट चली गई—मेरी बातें रेखा दीदी समझती नहीं हैं अम्मा ।

गृहिणी समझीं उल्टा, वह बोलीं—गृहस्थ की लड़कियाँ अंग्रेजी कैसे बोलें ? हम क़स्तान थोड़े ही हैं । हमारे घर की लड़कियाँ सीधी-सादी हैं । इसमें न समझने की कौन-सी बात है ?

अपमान, खेद से रूपरेखा का चेहरा विवर्ण हो गया ।

‘लो, तुम भी नहीं समझीं, रेखा दीदी बड़ी अच्छी हैं अम्मा । कसूर तो मेरा है । मैं ही तो इन्हें समझा नहीं सक रही थी ।’—जल्दी से सविता ने कहा ।

‘कौन-सी बात सतिया ?’

‘यही—मावाली ।’

‘मावाली कैसी री बिटिया ?’

‘तुम मेरी मा हो न अम्मा ?’

‘नहीं, तेरी मा नहीं तो क्या भाड़े से कोई मा आ जायेगी ?’

बहुत पहले ही गृहिणी ने सविता को अपनी कन्या कहकर प्रचारित कर दिया था । सत्य जाननेवाले व्यङ्ग से पीछे हँसते और अनजान व्यक्ति विश्वास कर लेते ।

गृहिणी फिर बोलीं—यह तुम्हारी छोटी ननद है दुलहिन । अच्छा, अब देर मत करो । बारह बज रहे हैं । लड़की भी वैसी है । अब चल सुरसती, तेरे बाल-वाल खोलूँ । नहाने-खाने की याद काहे को होगी । मेरा तो जी आफत में फँसा है ।

दासी रूपरेखा को स्नान कराने ले गई और सत्यभामा के पीछे सविता चल पड़ी ।

[१८]

इस नूतन जीवन में आकर पहले तो रूपरेखा विमूढ़-सी हो गई। दीर्घ दिनों की शिक्षा, रहन-सहन, अभ्यास को वह एक दम बदलती भी कैसे ? परन्तु धीरे-धीरे उसकी आदत पड़ गई।

यदि इस नववसन्त के प्रातःकाल में उसके लिए स्नेह का विन्दु, प्रेम का एक छोटा कण भी नहीं है, तो न रहे। फिर वह भी भिखारिन नहीं है। है वह राजरानी। आज्ञावाहिनी दासी बनने के लिए उसका जन्म नहीं हुआ है। आज्ञा देने के लिए वह धरती पर आई है। अपनी सत्ता, अपना मान-सम्मान सँभाले वह पृथ्वी पर राज करेगी। नहीं है स्नेह, प्रेम का विन्दु यदि वाष्प होकर उड़ गया है, तो जाने दो। किन्तु उसकी शक्ति तो उसके पास है न ? बस उतना उसके लिए यथेष्ट है।

आत्मीय कुटुम्ब से कमलेश का घर भरा हुआ था। विवाह में दूर-दूर के कुटुम्बी आये थे। भोजन आदि में दोपहर दो की घण्टी बोल गई। भोजन से निश्चिन्त होकर स्त्रियाँ ताश-पाश में जुटी हुई थीं। कोई थपकियाँ दे-देकर बच्चे को सुलाने के व्यर्थ प्रयास में लगी थीं। पानदान घेरकर कितनी बैठ गईं। बड़ी-बूढ़ियों का जमाव दूसरे कोठे पर था। वे सब दरी पर पड़ी सबकी बहू-बेटियों की समालोचना में लगी थीं। कमलेश लाइब्रेरी में चला गया था। मर्द बाहर की बैठक में बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। सत्यभामा अपने कमरे में पड़ी निद्रा की फिकर कर रही थीं। जानकी प्रभु के घर वापस जा चुकी थी।

कलान्त सविता अपने कमरे में पहुँची। जरा-सा लेट लेने के लिए वह शय्या की ओर बढ़ी कि रूपरेखा को देखकर खड़ी हो गई—आओ रेखा दीदी।

‘तुम इस कमरे में रहती हो ?’

‘हाँ, यह मेरा कमरा है।’

‘परन्तु तुमने अभी तक मेरा कमरा नहीं दिखलाया।’

‘कल रात जहाँ रहीं वही तुम्हारा कमरा है।’

‘वहाँ ?’—जरा इतस्ततः कर रेखा ने कहा—वे रात भर बत्ती जलाकर

पढ़ते हैं। मुझे नींद नहीं आती। अकेले सोने की मेरी आदत है। एक कमरा चाहिए, जहाँ कि मैं अपना सामान रख सकूँ, लिख-पढ़ सकूँ और आराम से सो सकूँ।’

‘कमरे तो बहुत हैं, एक नहीं—तुम दो ले लो।’

यद्यपि इतना कह दिया सविता ने, किन्तु वह विस्मित हो रही थी, विचार रही थी—कैसी है यह दुर्भाग्यवती नारी। दुर्भागिन नहीं तो क्या? जिसे उन जैसे आदमी का सङ्ग पसन्द नहीं आये वह दुर्भागिनी नहीं तो क्या है? उसे इस नारी पर दया उमड़ आई। नित नई-नई परिस्थितियों में पिसकर सविता अपने दुःख को, अपनी सत्ता को खो चुकी थी।

‘कमरा दिखला दो।’

उस उतावली को देखकर सविता असमंजस में पड़ गई।

‘क्या विचार रही हो?’—रूपरेखा व्यग्र थी।

‘विचार? कुछ नहीं। ठहरो, मा से पूछ लूँ।’

‘क्यों, तुम नहीं दे सकती हो?’

‘आखिर वह देखेंगी ही। उनसे पूछे बिना इस घर में काम नहीं होता। तुम वहीं सोया करो न दीदी, वही तो तुम्हारा अपना है।’

‘नहीं-नहीं।’

उस आर्त स्वर को सुनकर सविता सिहर उठी। वह भोली थी, सरल थी; किन्तु फिर भी थी नारी ही। नारी की व्यथा—अभाव को पहचानती थी।

उधर रूपरेखा अपने आप पर क्रुद्ध हो रही थी—यह कैसा लड़कपन कर रही है वह?

‘तो जल्दी उनसे पूछ लो।’—संयत कंठ से रूपरेखा ने कहा।

सविता के मुँह से गृहिणी ने जब वधू की अद्भुत माँग सुनी तो क्रुद्ध-विस्मय से उठकर बैठ गई। कल से लेकर आज तक उन्हें इसी वधू के लिए आत्मीय-कुटुम्ब के सामने कैसी लज्जा में पड़ना पड़ रहा था सो वही जानती हैं। एक दिन तो वह भी दुलहिन बनकर इस घर में आई थीं। किन्तु ऐसा अन्धेरे तो उनसे न किया। वह मानती हैं कि बहू लिखी-पढ़ी है और

वह हैं अपढ़। फिर इससे क्या ? अभी पड़ोस में धीरेन्द्र की बहू आई है, वह भी बी० ए० पास है। गाना, बजाना, सीना, पिरोना सब जानती है। बड़े आदमी की लड़की है। परन्तु घर की इज्जत-आबरू बचाये कैसी लक्ष्मी-सी रहती है। घर सँभाल लिया। दूर क्यों जाओ। सबजज की पुत्रवधू को देखो न। वह है एम० ए० पास। उस पर लेडी डाक्टर है। उसे देखकर जी संतोष से भर उठता है। पार्टियों में जाती है, सबसे बातें करती है। और इधर घर में खाली पैर रहती है। सास की बहू बनी घर के धन्ये करती है। बच्चों को कितनी अच्छी तरह पालती है। और यह कुलक्षणी ? यह तो पति से, सास से विद्रोह करना चाहती है। घर भर के मनुष्यों के सामने उनके मुँह पर कालिख पोतना चाहती है। अलग सोयेगी ? अभी से ऐसा स्वतन्त्र विचार ? अभी से सब अलग-अलग चाहिए ? ठहरो, मैं सब बदमाशी निकाले देती हूँ। यों विचारती गृहिणी क्रोध से उठीं और बाहर की ओर चलीं।

‘कहाँ जाती हो अम्मा ?’—सविता ने पूछा।

‘चुप रह। दिन भर अम्मा-अम्मा। जाती हूँ लायब्रेरी में कमला के पास।’

‘वहाँ जाकर क्या करोगी ? चलकर कमरा क्यों नहीं दिखलाती ?’

‘हट जा सुरसती।’

भटिका की तरह सत्यभामा ने लायब्रेरी में प्रवेश किया।

राशिकृत उपहार टेबल पर रखकर पृथीश तब सिर का पसीना रुमाल से पोंछ रहा था। और कमलेश कुर्सी पर बैठा मुसकराकर पृष्ठ रहा था—इतने सामान किसके लिए लाये हो पृथीश ? बैठ जाओ। पसीने में डूब रहे हो।

सत्यभामा की उस धक्कती हुई अग्नि-सी मूर्ति को देखकर पृथीश और कमलेश के मुँह की बात मुँह ही में समा गई।

उत्कंठा से कमलेश और पृथीश ने प्रायः साथ ही साथ पूछा—क्या बात है मा ?

‘बात क्या है, मेरा सिर ! ऐसी कुलक्षणी को घर लाई हूँ कि घर-बाहर मुँह दिखाना मुश्किल हो रहा है।

‘विदुषी बहू है न मा।’—कमलेश हँस रहा था।

‘चुप रह कमला । मुहल्ले में लिखी-पढ़ी लड़कियाँ बहुत हैं । उसी ने कुछ पास नहीं किया है । आजकल सब लोग लिखी-पढ़ी बहू लाते हैं ।’

‘ठीक है मा, लिखी-पढ़ी लड़की जैसी गृहस्थी सँभालती है, बच्चों को पालती है वैसी अपढ़ लड़की नहीं सँभाल सकती । और फिर आज दिन की परिस्थिति ही ऐसी है कि पढ़े-लिखे बिना काम चलता नहीं । तो भाभी कहाँ हैं मा ? मैंने उन्हें अब तक देखा नहीं । आज कहा, चलो भाभी के दर्शन करूँ ।’—पृथीश ने कहा ।

‘देखना, देखते ही समझ जाओगे, वह कैसी भभकती आग है । कमलेश के कमरे में उसे नींद नहीं आती । अलग कमरा चाहिए ।’—गृहिणी ने कहा ।

पृथीश चुप रहा ।

‘बस, इस जरा-सी बात के लिए तुम अस्थिर हो रही हो ? उसने ठीक कहा है ।’—कमलेश ने कहा ।

‘ठीक कहा उसने ?’

‘जरूर । एक कमरे में न उसे नींद आती, न मुझे । बहू तुम्हारी है । जानो तुम और वह । मैंने तो तुम्हारे आज्ञानुसार शादी कर तुमको बहू ला दी ।’

‘क्या तुमने उसे अपने कमरे में सोने को मना कर दिया है ?’—मा ने उतावली से पूछा ।

कमलेश हँसने लगा ।

‘यह कैसी बात है कमला ।’—माता गम्भीर थीं ।

‘छोटी और सीधी तो हैं मा । तुमसे मैं पहले कह चुका था ।’

‘पहले कहा था ? वह यही कहा था कि शादी मैं तुम्हारे मन से कर रहा हूँ । बहू ला दूँगा । समझना तुम । यही कहा था न ?’

‘बिलकुल ठीक है ।’

‘क्या निलज्ज-सा हँसता है ? तू उससे बोलेगा नहीं ? अलग कमरे में रहेगा ? और...’

बात काटकर कमलेश ने कहा—बोलूँगा क्यों नहीं ? उससे मेरा वैर थोड़े ही है !

‘तो दूसरे कमरे में उसे सोने को क्यों कह दिया ?’

‘मैंने किसी से ऐसा करने के लिए नहीं कहा है मा ।’

‘मुँह से न भी कहा हो तो क्या हुआ । तुमने उससे वैसा कुछ बर्ताव जरूर किया होगा । ब्याह के पहले तूने जो कुछ कहा था, उसका मतलब यह नहीं निकलता कि उससे वैर ही करेगा ।’

‘ऐसा तुमसे किसने कहा मा ?’

‘तेरा आचरण ही गवाही देता है । ऐसी सुन्दर परी-सा बहू, लिखी-पढ़ी, और तू उदास अलग-अलग रहेगा उससे । यदि तू उससे अच्छा बर्ताव न करेगा, तो वह रहेगी किसकी होकर ?’

‘तुम्हारी होकर । नहीं, वह रहेगी अपनी होकर ।’

‘जो जी में आये सो करो । बहू मेरी ही होकर रहेगी । और कहती हूँ कमला, कि एक दिन तुम्हें भी उसका होकर रहना पड़ेगा । छिः कमला, अब वह सब पागलपन छोड़ दो । अब तुम पति हो, अपना कर्तव्य करो ।’

‘कर्तव्य मेरा किसी पर कुछ नहीं है । और न किसी से मेरा कुछ सम्बन्ध है । इस बात को वास्तविक मानता हूँ कि तुम मुझे दुनिया में लाई हो, बस, मेरा कर्तव्य है, सम्बन्ध है मेरी माता से ।’

ऐसे मीठे शब्द भी सत्यभामा को अच्छे न लगे । उदासी पुत्र को वह गृहस्थ करना चाहती थीं । पुत्र को गृहस्थी में बाँधने के लिए अनुपम सुन्दरी वधू खोज लाई थीं—उसे व्यर्थ जाते देखकर उनका मन उदास हो गया । भीतर से उन्हें किसी ने पुकारा । वह उदास मुख भीतर चली गई ।

विषण्ण कण्ठ से पृथीश ने कहा—निर्लज्ज हँसी की भी सीमा रहती है कमलेश ।

‘परन्तु भाई, मैं तो सलज्ज हँसी हँसना नहीं जानता ।’

‘एक स्त्री को बलिवेदी पर चढ़ाकर तुम्हें निर्लज्ज हँसी हँसने का भी तो अधिकार आज नहीं है कमलेश ।’

‘शायद न हो । किन्तु मेरी दृष्टि में नकली को प्रश्रय देने से...’

‘भूला नहीं हूँ कमलेश । जानता हूँ, तुम प्रेम को नकली समझते हो । ठीक

है। अपना-अपना विचार है। किन्तु पूछता हूँ, एक निर्दोष स्त्री को विवाहकर उसका जीवन व्यर्थ क्यों कर दिया ?

कमलेश जोर से हँसा—किस अन्धी कल्पना के पीछे दौड़ते फिरते हो ? किसी का जीवन मैंने व्यर्थ नहीं किया। मेरे विचार सुनकर रूपरेखा जरा भी मन्निन नहीं हुई। केवल इतना ही नहीं, वरन् उसने साफ कह दिया—तुमसे मैं प्रेम नहीं कर सकती।

‘उन्होंने कहा ? याने भाभी ने ?’—पृथ्वीश ने चिल्लाकर पूछा।

‘हाँ, उन्हीं ने कहा।’

‘उसके बाद ?’—पृथ्वीश मन्त्रमुग्ध-सा पूछने लगा—उसके बाद—उसके बाद ?

कमलेश जरा विस्मित हुआ, कहा—उसके बाद वह निकलकर चली गई।

‘सच कहते हो ?’

‘भूठ मैं कब कहता हूँ।’

‘याने उन्होंने कहा—अपने कान से तुमने सुना ?’

‘मैं बहरा कभी नहीं रहा, न अब हूँ।’

[१६]

गृह निःस्तब्ध था। उस नीरवता में घड़ी की टिकटिक जोर से सुन पड़ने लगी। उस नीरवता के प्रति यदि घड़ी को दया आ गई हो तो वही जाने, किन्तु मित्रद्वय को नीरवता का विचार तक नहीं था। कमलेश की आँखें पुस्तक में आबद्ध थीं। और पृथ्वीश अपनी चिन्ता में मग्न था।

धीरे से परदा हिला। उसके बाद नौकर के हाथ में जलपान का बड़ा-सा टेबल दीख पड़ा। पीछे-पीछे सविता कमरे में पहुँची।

‘फिर खाना पड़ेगा ?’—स्मित हास्य से कमलेश ने कहा।

‘जलपान का समय हो गया न।’

‘परन्तु अभी तो दोपहर के भोजन की मछलियाँ भी पेट में चल-फिर रही हैं। न मानो तो देख लो।’—अपने परिहास में मस्त कमलेश अकेला ही हँसने लगा।

जरा-सा मुसकराकर सविता ने ट्रे नौकर के हाथ से ले ली। पृथीश जरा सीधा होकर बैठा।

‘इन्हें भूख नहीं है, किन्तु तुम्हें तो भूख है न पृथीश भैया ? तुम्हें खाते देखकर इन्हें भी भूख लग आयेगी।’

पृथीश उठकर खड़ा हो गया—आज क्षमा करो सविता। जल्दी है, कहता हुआ वह द्वार की ओर बढ़ा।

‘ठहरो—ठहरो। ये उपहार किसके लिए लाये थे ?’—कमलेश ने आवाज लगाई।

लौटकर पृथीश टेबल के निकट खड़ा हो गया—भाभी को दे देना।

‘मेरे देने से वह क्यों लेंगी ?’

‘न लेंगी ?’

‘शायद नहीं।’

पृथीश विचार में पड़ गया।

तब तक सविता ने दो प्लेटों में जल-पान सजाकर उन दोनों के सामने रख दिया। नौकर चाय लेने जा चुका था।

‘तुम लोग खाओ, मैं रेखा दीदी को अभी लिवाये लाती हूँ।’—चलते-चलते सविता ने कहा।

मित्रद्वय चुपचाप जलपान कर रहे थे। प्लेटें प्रायः खाली थीं। पीछे से हँसने की आवाज न आती तो शायद वे अन्तिम रसगुल्ला तक मुँह में भर लेते।

पृथीश ने घूमकर देखा। इसके बाद उसकी दृष्टि वैसी ही रह गई—अचल, स्पन्दन-हीन। उसे लगा—उस रूप की उवलन्त शिखा में वह अभी-अभी पतंग की नाईं भस्म हो जायेगा। किन्तु फिर भी वहाँ से दृष्टि न फेर सका। कमलेश की दशा भी प्रायः वैसी ही थी।

‘ये लोग तुम्हें बैठने को भी न कहेंगे रेखा दीदी। आओ, यहाँ पर बैठ जाओ।’

रूपरेखा और सविता एक कोच पर बैठ गईं। कमलेश को लगा, सूर्य के प्रकाश में चाँद की शान्त श्री ढँक-सी गई। उसने आँखें फेर लीं।

‘सामने बैठी हैं रूपरेखा, कुछ उपहार देने थे न पृथीश ?’—कमलेश ने कहा ।

पृथीश सहमा—आपके पति का मैं मित्र हूँ । पृथीश को आप अपना देवर समझिए । तो भाभी, आपके लिए कुछ भेंट लाया हूँ ।

‘और देवर का दिया हुआ तिनका भी भाभी के पास अनमोल है । ये तो बहुत-सी चीजें हैं ? बक्स में क्या है ?’—परम आत्मीय की नाई रेखा ने कहा ।

‘हारमोनियम है भाभी । सुना था, आप बहुत अच्छा गाती हैं ।’

इस सहज वार्तालाप के भीतर कमलेश भी अवाध रूप से हिल-मिल गया ।

‘और उस गाने को सुनने के लिए हम दोनों मित्र अधीर हो रहे हैं ।’—कमलेश ने कहा ।

रूपरेखा धीरे से हँसी—यदि आप सुनना चाहते हैं, तो जो कुछ मैं जानती हूँ, सुनाने के लिए तैयार हूँ ।

‘फिर देर किस बात की है ?’—कमलेश सन्तुष्ट हो गया था ।

‘आज माफ करें ।’

सविता ने सबके मुँह की हँसी को देखा । उसके मुँह की हँसी बुझ-सी गई । सिर नीचा किये वह मूर्ति की भाँति बैठी की बैठी रह गई ।

अन्त तक उन दोनों के अनुरोध को रूपरेखा टाल न सकी । नया बाजा सामने आ गया । उस बाजे से गला मिलाकर रूपरेखा गाने लगी । न ठुमरी गाई, न ठप्पा, गजलें भी नहीं । तल्लीन हाँ स्वशास्त्र ख्याल, जय-जयवन्ती राग गाने लगी वह । चित्र की भाँति तीनों व्यक्ति स्तब्ध रह गये । यद्यपि सविता और कमलेश राग-रागिनी कुछ समझते नहीं थे, फिर भी उन्हें लगा—ऐसा पहले कभी उन्होंने सुना नहीं ।

गाना बन्द हुआ ।

परिवृत्त स्वर से कमलेश ने कहा—सच कहता हूँ रूपरेखा, पहले कभी मैंने ऐसा सुना नहीं ।

उस स्वर को सुनकर सविता का जी जाने कैसा कर उठा । आँखों में पानी

छलछलाने लगा। नहीं, नहीं, वह और देख नहीं सकती थी, सुन नहीं सकती थी।

अपने प्रीतम को सविता ने पराया होने की सजा अपने हाथों दी थी और मौर उसे अपने हाथों बाँधा था—यह भी मिथ्या नहीं है। किन्तु उस सत्य को तो कभी उसने अपनी खुली आँखों के सामने देखना न चाहा था। जिस बात की कल्पना तक कभी मन में उठ न पाती, उसे वह सहती कैसे? देखती कैसे?

उपकथा की कन्या-सी वह भी त्याग कर सकती थी। वरन् उसने किया भी था; किन्तु उस त्याग के तग्न रूप को वह देख नहीं सकती थी—नहीं-नहीं। भीत चिड़िया-सी उसने आँखें बन्द कर लीं और उठकर भागी। किसी ने उस ओर देखा, न देखा।

विश्रमयमुग्ध पृथीश उठा और एकदम रूपरेखा के निकट जाकर खड़ा हो गया। वैसे ही पूछा—भाभी, इस झंकार को तुमसे कहाँ पाया? इसी को तो मैं ढूँढ़ता फिर रहा हूँ। इसी सबलते हुए जीवन की तो हमारे देश में जरूरत है।

रूपरेखा का स्वर तृप्ति से भर उठा—आप बढ़ा रहे हैं पृथीश बाबू। इससे अधिक और कुछ वह कह न सकी। सभा, विवाह, पार्टियों में उसने अपने रूप, गुण, संगीत की अनेक प्रशंसा, स्तुति सुनी थी। और उन सबको सुनते-सुनते उसे एक अभ्यास-सा हो गया था। उस प्रशंसा में ऐसी मादकता न रहती थी, न ऐसा आनन्द ही मिलता था।

आज जब चहुँओर से उसकी हार ही हार हो रही थी, तब ऐसे एक दिन में डूबती हुई नौका को मानों किसी जहाज का बड़ा-सा सहारा मिल गया। पृथीश की प्रशंसा उसके लिए ठीक वैसी ही थी। पहले अपनी प्रशंसा में उसने ऐसी मादकता, ऐसा अपनापन, ऐसी मिठास न पाई थी। विजित की खुशी से उसका जी भर उठा।

द्वार खुला। गृहिणी बीच में आकर खड़ी हो गई—तुम्हें आये अभी दो दिन भी नहीं हुए दुल्हिन। यह कमरा बाहर का है; मर्दों के लिए है, घर की

बहू-बेटियों के लिए नहीं। गाने-बजाने के लिए जिन्दगी पड़ी है। बाप के घर चाहे कुछ भी किया हो, किन्तु यहाँ यह सब न चल सकेगा। यह कोई बाजार नहीं है। गृहस्थ का घर है।

‘गाने के लिए मैंने कहा था। भाभी राजी नहीं हो रही थीं।’—शीघ्रता से पृथीश ने कहा।

पल भर में रूपरेखा का मुँह अपमान से लाल पड़ गया। उत्तर देने के लिए कंठ में शब्द धूम मचाने लगे; किन्तु फिर भी वह चुप रह गई।

‘ऐसा तूने क्यों कहा पृथ्वी? सब लोग बहू की हँसी उड़ा रहे हैं। जैसा कमला—वैसा तू। अकल बिलकुल नहीं है।’

‘मा, देखो, पृथीश तुम्हारी बहू के लिए क्या-क्या लाया है?’

‘बहुत लाया है। तो कल अपनी भाभी का बनाया भोजन भी यहाँ कर लेना। क्यों दुलहिन, कुछ बनाना-चुनाना भी मा-बाप ने सिखलाया या खाली पढ़ाया हो?’

‘यों ही कुछ बना लेती हूँ।’—रूपरेखा धीरे से बोली।

‘बना लेती हो? इतना अच्छा है।’—गृहिणी कुछ प्रसन्न हुई—‘आओ मेरे साथ।’

रेखा जाते-जाते रुकी। पृथीश को उसने नमस्कार किया, फिर चल दी।

राशिकृति विस्मय नेत्रों में लिये गृहिणी ने पृथीश से पूछा—‘यह बहू मदों जैसा हाथ क्यों जोड़ती है?’

‘यह सभ्य नियम है अम्मा।’

‘आग लगे ऐसे नियम पर।’—कहती हुई गृहिणी बहू के पीछे-पीछे भीतर चली गई।

[२०]

सविता—भोर की चिड़िया-सी, श्वेत-चन्दन-तिलक-सी, काली रात के जुगनू-सी, मीठी, मोहक, शान्त-श्री सविता व्यग्र उत्कंठा से विवाह की इस दूसरी तैयारी को देख-मुन रही थी।

कमलेश के घर उत्सव की शहनाई बन्द होते-होते दूसरी शहनाई बजने की तैयारी होने लग गई थी।

इस बार था घर की लड़की सविता का विवाह। सोने से लेकर हीरे मोती आदि सब प्रकार के अलङ्कार बहुत पहले से गृहिणी ने उसके लिए बनवाकर रखे थे। रहे वस्त्र सो अब खरीद जा रहे थे। सीधा सामान इकट्ठा किया जा रहा था।

भाराक्रान्त मन से सविता कमरे में बैठी थी।

‘भाभी।’—द्वार के बाहर से पृथ्वीश ने पुकारा। उस स्वर ने सविता के हृदय पर एक बोझ-सा रख दिया। किन्तु उस पुकार की प्रतिक्रिया दूसरे स्थान में ठीक उलटी हुई। रूपरेखा का मन आह्लाद से भर गया। इस घर में? हाँ—इस घर में वही तो पुकार रहा है उसका अपना। एकान्त भाव से उसी का अपना।

उस पहिले परिचय के प्रथम मुहूर्त में इस व्यक्ति को गाना सुनाकर, हाथ का बनाया भोजन कराकर, तर्क-वितर्क कर पा लिया था बदले में उसने एकाधिकार का छोटा किन्तु सुदृढ़ स्थान और प्रेम, भक्ति आदर से सनी छोटी पुकार—भाभी। वही तो था उसके विवाहित जीवन का चरम लाभ और परम सार्थकता।

जीवन का मध्याह्न; न सन्ध्या न रात्रि, उसके जीवन के इस प्रातःकाल की उज्ज्वल वेला में क्या इतना भी कम लाभ था?

‘भाभी।’—पृथ्वीश ने फिर पुकारा।

अधीर चरणों से रूपरेखा दूसरे कमरे से निकल आई—आइए भाई साहब। ‘सब लोग सो रहे हैं क्या?’

‘आराम करते होंगे। चलिए सविता बहन के कमरे में बैठें।’

भीतर से सविता सब कुछ सुन रही थी। उठकर बैठ गई। वस्त्र ठीक कर लिये। पृथ्वीश कमरे में पहुँचा। पीछे आई रूपरेखा। सविता से बातें करते पृथ्वीश को सकोच-सा लग रहा था। दो दिन पीछे सविता उसकी दुलहिन बन जायेगी।

उसके साथ पहले-सी असंकोच बातचीत करते पृथ्वीश को बड़ी शर्म लग रही थी ; किन्तु सविता के व्यवहार को देखकर रूपरेखा को भी विस्मित होना पड़ रहा था । 'वहाँ क्यों बैठते हो पृथ्वीश भैया, यहाँ मेरे पास बैठो न । ग्रेट-चार की बड़ी अच्छी कहानी सुनाते हैं यह । सुनी है तुमने दी दी ?'—सविता ने असंकोच पृथ्वीश को अपने निकट बैठा लिया ।

'नहीं सुनी । आप ग्रेटवार में गये थे पृथ्वीश बाबू ?'

'गया था भाभी ।'

रूपरेखा को यह बात बड़ी अच्छी लगी । ऐसा एक व्यक्ति उसका देवर है, जो कि महायुद्ध में गया था, जिसकी नसों में युद्ध की वार्ता छिपी पड़ी है । और वही है उसका अपना देवर ।

वह नारी है और पृथ्वी की एक जीव । लिखी पड़ी है । गाना बजाना, सीना पिरोना, घर गृहस्थी सब कामों में निपुण है । बड़े घर में व्याही है । पति प्रतिष्ठित डाक्टर हैं । कहीं कुछ अभाव नहीं हैं ; परन्तु फिर भी उसका मन भूखा ही रह गया है । पृथ्वी के जलवायु में जो एक अपनेपन की भूख साकार है, पृथ्वी की नारी वह, उस लुधा से अचूकी कैसे रह जा सकती है ? उसी अपनेपन की लुधा से विकल रूपरेखा के सामने आ गई जब अपनेपन की पुकार, तो वह चुप भी न बैठ सकी । दुर्भिक्षपीड़ित की भाँति दोनों हाथों से उसने उसे समेट लिया । बद्दहजमी का विचार जाता रहा ।

रूपरेखा जरा और खिसकर, पृथ्वीश से प्रायः लगकर बैठ गई । पूछा—भाई साहब, चुप क्यों हो गये ? बचपन में मुझे वीरत्व की बातें बड़ी अच्छी लगती थीं । कहो, वहाँ गोले बारूद की कैसी वर्षा होती थी ? तुम युद्ध कैसे करते थे ? मशीनगन की उस भीषण आवाज से बहरे नहीं हो जाते थे ?

'नहीं भाभी । सुनी है तुमने कभी एक साथ हजारों बिजली की कड़क ? नहीं ? यदि सुनतीं तो उस नाद को तुम समझ सकतीं ।' उसी शब्द से सैनिकों का खून उबलने लगता था । हमारा ठण्डा खून गरम हो जाता था । वही तो जीवन का सच्चा आनन्द है भाभी । बड़ा मजा था । जाने कितने मीलों तक कभी भूखे प्यासे चलना पड़ता । थक जाते थे ? नहीं नहीं, कहीं की

भूख कहाँ की प्यास ! कभी खुद लुट जाय, कभी खाने का सामान चुक जाय, तब घोड़े का मांस भी अमृत के समान लगता था ।'

‘घोड़े का मांस ! सुन रही हो सविता बहन ?’

हँसकर पृथ्वीश ने कहा—सविता क्या सुने । वह तो जाने कितनी बार सुन चुकी है । वहाँ की बात मुझसे ज्यादा सुन्दरता से वह कह सकती है ।

‘ऐसा, क्यों सविता बहन ?’

‘हाँ, रेखा दीदी । वहाँ के दृश्य मैं आँखें बन्द कर देख लेती हूँ । उन कटे, जले और अधमरों को देखकर मुझे रोना आ जाता है ?’

व्यङ्ग से रूपरेखा ने कहा—रोना ? परन्तु मुझे खुशी होती है । वही तो जीवन है । यदि मैं भी कभी युद्ध में जा सकती तो कितना अच्छा होता !

स्नेहपूर्ण नेत्र से पृथ्वीश ने सविता को देखा फिर कहा—जाने दो इन बातों को । सविता का मन बड़ा नरम है । इधर सुनना भी चाहिए उधर रोना भी । जाने ऐसा शिशु-सा मन लेकर वह पृथ्वी में कैसे रहेगी, मुझे उसके लिए डर लगता है भाभी, संसार उसे समझने में कहीं गलती न करे । यदि ऐसा हुआ तो यह छोटी चिड़िया...पृथ्वीश चुप रह गया ।

उसकी अर्द्धसमाप्त युक्ति में सविता के लिए कितना गम्भीर स्नेह भरा रह गया, जिसे विचारकर रूपरेखा के नेत्र ईर्ष्या से जल-से उठे । इस अपढ़, अशिक्षिता, मोम-सी अशक्त और भीरु लड़की के लिए स्नेह, सम्मान का ऐसा श्रेय-अर्घ्य ?

रूपरेखा कहने लगी—युद्ध के वीरतापूर्ण मैदान के लिए आँसू बहाना याने उस वीरता का अपमान करना है । जगत् के दीन, दुःखी, असहाय के लिए नारीमात्र के मन में एक स्वतः सिद्ध करुणा सहृदयता रहती है पृथ्वीश बाबू ! न इसमें कोई विस्मय है और न यह कोई सराहने की बात है । परन्तु युद्धप्राङ्गण के लिए आँसू बहाना—मैं तो उसे भीरुता, लड़कपन के सिवा कुछ नहीं समझ सकती ।

उत्तर प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही रूपरेखा उठकर खड़ी हो गई—
तुम्हारा जी कल से ज्यादा खराब है सविता, मैं जलपान लिये आती हूँ ।

रूपरेखा के इस सहसा पलायन का अर्थ समझकर पृथ्वीश को एक धक्का लगा—उसकी भाभी, जिसे कि वह बहुत कुछ समझे हुए था—वह मात्र एक घर गृहस्थिन स्त्री ही है ? उसके ऊपर ? नहीं, उसके ऊपर और कुछ भी नहीं । और सविता ? वह है शिशु । और यह शिशुत्व ही उसका सौन्दर्य है, रूप है, गर्व है ।

रूपरेखा के इस अद्भुत आचरण से सविता का मन दुःखी हुआ । वह कुछ समझी, न समझी । मन के भीतर एक अस्वच्छन्दता-सी लगने लगी । परन्तु इसके लिए न उसने किसी पर अनुयोग किया न तर्क-वितर्क ।

‘जी अच्छा नहीं है सविता ? कल मैंने कुछ भी नहीं सुना । क्या हुआ है ?’—पृथ्वीश ने पूछा ।

‘थोड़ा बुखार चढ़ आया था । आज नहीं है ।’

‘बुखार रहा ? इन दिनों तुम दुबली होती जा रही हो । प्रायः डर हुआ करता है । अभी तो मुझे क्वेटा जाना है । वहाँ से लौटकर तुम्हें कहीं हवा बदलने ले चलूँगा ।’

‘हवा बदलने ? तो चलो न पृथ्वीश भैया ।’

उस आर्त स्वर को सुनकर पृथ्वीश चौंका ।

हठात् उसने पूछा—क्यों, यहाँ क्या तुम्हें कुछ तकलीफ है सविता ? मुझे लगता है तुम यहाँ से भागना चाहती हो ?

‘नहीं-नहीं, मैं यहीं रहना चाहती हूँ ।’—सविता सिहरी, सँयत स्वर से बोली ।

उसने इस जोर के साथ कहा, जिसे सुनकर पृथ्वीश स्तब्ध रह गया । वह सविता को विस्मित दृष्टि से देखने लगा । जिस तीक्ष्ण दृष्टि के नीचे सविता जड़-सी रह गई । सविता को लगने लगा—पृथ्वीश की वह अन्तर्भेदी दृष्टि उसके मन की गुप्त वार्ता तक को पढ़ लेगी । जिस वार्ता को वह जगत् से गुप्त रखना चाहती है, उसे बाहर खींच लायेगी—वह दृष्टि ।

‘परन्तु यहाँ रहना कैसे हो सकेगा सविता ? शादी के बाद तुम्हें मेरे साथ रहना पड़ेगा । मैं अपनी धर्मपत्नी को किसी के घर कैसे रख सकता हूँ ?

कितनी कहानी सुनेगी तुम ? मैं तुम्हें नित नई कहानी सुनाया करूँगा । और उसी कहानी के भीतर एक कहानी-सा अपना जीवन बीतता रहेगा । और दुनिया की सब वस्तुओं के परे मेरे मन, प्राण, शरीर के ऊपर तुम रहोगी रानी होकर सविता । एकछत्र तुम्हारा अधिकार वहाँ रहेगा । न वह कहानी कभी चुकेगी और न हम-तुम कभी चुकेंगे । सुन रही हो न सविता ?—पृथ्वीश ने कहा ।

सविता के जड़प्राय मन में चेतना लौटी । साहस के साथ उसने पृथ्वीश की ओर देखा । तब उसके नयन में न लज्जा की छाया थी, न भय की भीरुता, न संकोच शंका । बोली—छोटी बहन का अधिकार यदि तुमने कभी दे दिया, था, तो उस अधिकार को पृथ्वी की आवर्जना में फेकने की चेष्टा मत करो । उस अधिकार को शुचिता के साथ रखने का अधिकार भी तो तुम्हीं को है न भैया ।

विस्मय-विमूढ़ नेत्रों से पृथ्वीश उसे देखने लगा—मिलन की वेला में यह छोटी बुलबुल कौन-सी भैरवी अलापने लगी ? जब कि सब कुछ तय पा चुका है, विवाह का दिन तक निश्चित हो गया है, तो यह क्या से क्या कहने लगी ?

‘क्या कह रही हो सविता, जरा साफ कहो ।’—पूछा पृथ्वीश ने ।

‘विवाह नहीं कर सकती ।’—परिष्कृत कंठ से वह बोली ।

देर के बाद पृथ्वीश बात कर सका तो कहने लगा—यदि ऐसा था, तो पहले क्यों न कह दिया ? व्यर्थ की झंझट में मैं क्यों पड़ता ? ठीक है, स्त्री-चरित्र स्वयं ईश्वर भी नहीं समझ सकते । फिर मैं तो मनुष्य ही ठहरा । .

‘मैं तुम्हें दुःख देना नहीं चाहती थी भैया ; परन्तु जो होने का नहीं सो कैसे हो सकता है ? मैं निरुपाय हूँ ।’—व्यथा से उसका स्वर रुँध-सा गया ।

पृथ्वीश हँसा । ऐसी हँसी, मानों पूरी शक्ति उसने हँसने में भर दी हो । हँसी रुकी तो एक गुब्बारे-सा वह फट पड़ा—अब इस मौखिक विनय की जरूरत नहीं है सविता । तुम-सी स्त्री मुझे बहुत मिल जायेंगी । वह तो कमलेश के अनुरोध से मैं राजी हो गया था । वरना तुम-सी भीरु, डरपोक, अपढ़ लड़की मेरे किस काम आती ?

शोभ से सविता तिलमिला उठी । अपमान से उसकी नसें तन गईं । वह

कुछ कहने को हुई, तब तक मुँह पर हँसी लिए, जलपान की रकेबी थामे रूप-रेखा पहुँच गई—देर तो नहीं लगी भाई साहब ? लीजिए ।

छोटी तिपाई उसने पृथीश के सामने रख दी, उस पर रकेबी रख वह सामने बैठ गई ।

‘तुम एक कप चाय पी लो सविता । लाने के लिए कह आई हूँ ।’—रूप-रेखा ने सविता से कहा ।

‘तुम्हारे सब काम कैसे अच्छे, शृङ्खला-बद्ध होते हैं भाभी । नमकीन के साथ कटहल का अचार भी न भूलीं ।’

खुशी से रूपरेखा मचल-सी पड़ी । पृथीश उससे हँसकर बातें करने लगा । बातों में दोनों ऐसे लगे कि सविता का अस्तित्व तक बिसर गये ।

और सविता ? आर्त दीर्घ श्वास को हृदय में दबाकर वह भाग निकली ।

रात्रि में सत्यभामा के निकट बैठी-बैठी सविता बोली—यह सब रोक दो मा ।

‘कौन सी बात ?’—सत्यभामा ने पूछा ।

सब कुछ कहने सुनने के लिए प्रस्तुत होकर वह आई थी । झूठ और सच सब बातों को कहेगी और जरूर कहेगी ।

‘यही शादी की बात । रोक दो इसे ।’

‘रोक दूँ शादी ? क्या कहती है सतिया । हिन्दू की लड़की कहीं काँरी रही है ?’

‘परन्तु दो बार यदि शादी हो तो पाप न लगेगा ?’

‘जरूर लगेगा ।’

‘फिर मेरी शादी क्यों कर रही हो ?’

‘तू क्या विवाहिता है ?’

‘हाँ, अम्मा !’

‘ऐसा ! तो मुझसे पहले क्यों न कह दिया ?’

‘कह तो रही हूँ ।’

‘मेरे जमाई कहाँ हैं ? यह कौन-सी शर्मिने की बात थी, जो अब तक तूने कही नहीं ? मुझसे तो बता देती । बता जल्दी, वह कहाँ हैं ?’

‘सो मैं नहीं जानती अम्मा ।’

‘नहीं जानती ? कैसी लड़की है ।’—इसके बाद सोच विचारकर सत्य-
भामा कहने लगीं—मैं समझती हूँ ; बचपन में तेरे बाप ने शादी कर दी होगी ।
यही बात है न ?

सविता चुप रही ।

गृहिणी ने पूछा—तेरा पति कभी घर पर आया था ?

‘नहीं ।’

‘कहाँ रहता है ?’

‘मैं क्या जानू ।’

‘नाम धाम कुछ जानती है ?’

‘नहीं जानती अम्मा ।’

‘कैसी बे सिर पैर की बात करती है ?’

गृहिणी की बातों से सविता को कहने के लिए एक अवलम्बन सा मिल गया । झूठ कहने का डर जाता रहा, बोली—बचपन में परदेश में मेरी शादी कर पिता लौट आये थे । उसके बाद उनका पता न चला । वे बातें एक स्वप्न-सी कुछ याद हैं । तब मैं बहुत छोटी थी ।

गृहिणी सस्नेह उसके सिर पर हाथ फेरने लगीं । बोलीं—पहले कह देती तो इतना बखेड़ा क्यों होता ? जाने दे । यदि वह निर्मोही खोज खबर नहीं लेता, तो न ले । मा को बेटी भारी नहीं होती । अच्छा किया तूने कह दिया बेटी । मेरी सतिया आजकल की लड़कियों-सी थोड़े ही है । वह पाप पुण्य, धरम-करम मानती है । लेट जा मेरे पास । कहानी कहूँ ।

[२१]

वर्षा के अन्तिम श्वास में पृथ्वी फूली न समा रही थी । जलसिक्त पवन में भींगी मिट्टी की गन्ध भरी थी । उसी गन्ध में बसी-सी पूरबी अपनी अटारी में बैठी थी—मदिरा भरी प्याली आँखों में लिये, कलश भर छल अधर में लिये । और हृदय में ? हृदय की बात तो वही जाने । चाहे छल रहा हो, खुशी रही

हो, कौतुक, घृणा रही हो, या तो आँसू रहे हों और नहीं तो किसी पथिक के पदचिह्न ही रहे हों। जाने वह—और जाने उसका मन।

बड़ा-सा कमरा। फर्श पर मूल्यवान गलीचे बिछे थे। बिजली का उज्ज्वल प्रकाश। लोहबान की सुगन्ध। मोटे-मोटे मखमली तकियों के सहारे गोल-मटोल सेठजी सपरिपट् विराजमान थे। सामने भाव-विलासमयी बाईजी पूरबी बैठी थीं। बीच में इलायची, पान आदि की चाँदी की रकेंबी। बाईजी के पीछे सारङ्गी-वादक, तबलची आदि।

शराब ? नहीं ; पूरबीबाई के घर शराब निषिद्ध थी। गाना वह सबको सुनाती। जी चाहे बाहर से शराब पीकर आओ ; किन्तु उसके घर पर शराब कोई नहीं पी पाते थे। कुछ लोग झुँकलाते, पीछे उसे गालियाँ देते, उसके घर न आने की सौगन्ध खाते। किन्तु दूसरे दिन वही लोग चले आते। जरूरत पड़ती तो बाहर जाकर शराब पीते। पैसों की कमी पूरबी को नहीं थी। याद कोई अभिमानी उसके घर न आता तो उसकी परवा उसे न रहती।

हथौड़ी मार-मागकर तबलची तबले को ठीक करने लगा। खूँटियाँ कस-कस बेसुरी सारङ्गी को वादक ने सुर में मिला लिया। मुसकराकर पूरबी ने तान छेड़ दी। रास्ते के ऊपर पूरबी का घर था। अचानक रास्ते पर कोला-हल मचा। बैठे मनुष्य ऊपर के छज्जे पर से भाँकने लगे। पूरबी भी झुककर देखने लगी। पता चला मोटर-एक्सीडेंट हो गया है। पूरबी के द्वार के सामने एक व्यक्ति पड़ा हुआ था और उसे जनता घेरे खड़ी थी, टूटी टैक्सी कुछ दूर पड़ी थी।

यद्यपि सन्ध्या की धूसर छाया में आहत व्यक्ति साफ नहीं दीख रहा था, तथापि पूरबी पृथीश को पहचान ही गई।

पूरबी को नीचे उतरते देखकर नौकर-चाकर उसके पीछे हो लिये। सेठजी पुकारते ही रह गये—तुम कहाँ जाती हो बाईजी, वहाँ जाकर क्या करोगी ?

तब तक पूरबी भीड़ में जाकर खड़ी हो गई और नौकरों की सहायता से बेसुध पृथीश को उठा ले चली।

प्रश्नों की वर्षा-सी होने लगी। परिचित अपरिचित सब लोग पूरबी से

पूछने लगे—इन्हें तुम पहचानती हो ? पूरवी का उत्तर संक्षिप्त-सा रहा—हाँ, यह मेरे आत्मीय हैं ।

अपने पलंग पर पृथीश को लिटाकर पूरवी उसके मुँह पर पानी के छींटे मारने लगी ।

विरक्त सेठजी ने कहा—राहगीरों के लिए यह दृढ़ अच्छा नहीं होता बाईजी ! कितने अभागे मरते रहते हैं, किन-किन की सुध लेती फिरेगी ? अवज्ञा की दृष्टि से पूर्वी ने उस ओर देख भर दिया । कार लेकर नौकर तब तक डाक्टर को लेने के लिए चल चुका था । पूरवी पृथीश के सिरहाने बैठकर पंखा झलने लगी ।

थोड़ी देर के बाद पृथीश ने आँखें खोल दीं । आघात अधिक नहीं था । आँखें खोलीं और अचम्भे से चहुँओर देखने लगा ।

सेठजी ने जल्दी से कहा—अब तो यह अच्छा है । चलो बत्ता टली । इसे जाने के लिए कह दो और चलकर दो चार चीजें सुना दो ।

‘आप आज चले जाइए सेठजी, मुझे वक्त न मिलेगा ।’—विरक्ति से पूरवी का स्वर रुढ़ हो रहा था ।

‘सो क्यों बाईजी ?’—तोंद पर हाथ फेरता सेठ सामने खड़ा हो गया ।

पृथीश ने आँखें उठाकर परवी को देखा । उसे पहचान सकने के साथ ही साथ वितृष्णा उसके नेत्रों में साकार हो गई ।

‘किसी की साँस मेरी ही आँखों के सामने घुँटती हो और मैं किसी को गाना सुनाने बैठ जाऊँ, ऐसा नहीं हो सकता सेठजी ।’—पूरवी ने कहा ।

विस्मय से पृथीश पूरवी को देखने लगा ।

‘यह व्यक्ति तुम्हारा कौन है ?’—क्रोध से सेठजी का मुँह ताल पड़ गया ।

‘सब कोई ।’—वह अनायास कह उठी—सब कोई । इस छोटे उत्तर को सुनकर सेठजी के साथ पृथीश भी चौंका । पृथीश को भी यह उत्तर खराब लगा । एक वेश्या, जिसकी छाया से उसे घृणा है, वही वेश्या दुनिया के सामने उसकी सब कोई होने का दावा लेकर खड़ी हो जाय ? अन्धेर ही तो है । और वह एक भद्र होकर ऐसी बातों को सह नहीं सकता । प्रतिवाद

करने के लिए उसका जी चाहने लगा, किन्तु जाने क्यों वह चुप ही रह गया।

‘अगर यह तुम्हारा सब कोई है तो हम लोगों को क्यों भरमाये फिरती हो?’

पूरवी खिलखिला पड़ी—पैसों के लिए।

इस नग्न और सत्य उत्तर को सुनकर दोनों व्यक्ति निर्वाक रह गये।

‘पैसे चूसते वक्त हम हैं और ‘सब कोई’ होते वक्त यह महाशय हैं?’—
सेठजी क्रोध से विकल हो रहे थे।

‘उतरने को तो आप गहरे तक उतर गये। और जरा-सी बात न समझ सके। आप ही कहिए—आहत अतिथि अपना कौन हो सकता?’

बात सुनकर सेठजी के हृदय पर से वह भारी बोझ उतर गया। और पृथीश का मन श्रद्धा-सम्भ्रम से भर उठा।

‘समझा बाईजी। तुम एक रत्न विशेष हो। अब यह अच्छे हैं। इन्हें घर भेजवा दो। गाना बजाना होने दो।’—भाव-गद्गद् कंठ से सेठ ने कहा।

‘फिर वही बातें। अच्छे कहाँ हैं? एक बार आँखें खोल दीं तो अच्छे हो गये? अभी तक सिर से खून बह रहा है।’

पृथीश ने कहा—मैं अब अच्छा हूँ पूरवी। गाड़ी मँगवा दो तो घर चला जाऊँ। अनेक धन्यवाद।

‘जरा चुपचाप पड़े रहिए। ऐसी दशा में मैं नहीं जाने दे सकती।’

सेठ का धैर्य जाता रहा। कड़ककर बोला—अब यह नखरे कब तक चलेंगे। गाना सुनाओ चलकर।

‘कह दिया आज मुझसे कुछ नहीं होने का। घर चले जाइए।’

‘घर चला जाऊँ? पैसे छाड़कर चला जाऊँ? वाह, खूब कही। मुझ-सा पैसा खर्च करनेवाला है ही कौन? रंडी के घर आना भी एक जुल्म है। ऊपर से मिजाज बतलाती है।’

शान्त स्वर से पूरवी ने कहा—देह मेरी अवश्य बिकी हुई है सेठजी,

दुनिया से यह बात छिपी नहीं है। परन्तु मेरी अत्मा मेरी ही है, मेरी रहेगी। उसे मैं नहीं बेच सकती। बस अब चले जाइए।

बकते-भकते सेठजी निकल गये।

आज प्रथम बार पृथीश के मन में वेश्या के प्रति करुण जागी। अचानक पृथीश ने पूरबी का हाथ पकड़कर खींच लिया।

‘बड़ा दुःखी जीवन है पूरबी तुम्हारा।’

‘मेरा?’—पूरबी शान्त हँसी—जाने दीजिए उस बात को। इस हृदय में जाने कितने छोटे बड़े अघातों के चिह्न होंगे। कितनी ही व्यंग की मुस्कानें दबी पड़ी होंगी। क्या होगा उन सबको जानकर?

‘उन अघातकारियों में मैं भी एक हूँ न पूरबी।’

‘आप? होगा भी।’

देर के बाद पृथीश ने पूछा—उस दिन तुम मेरी प्रतीक्षा में बैठी थीं पूरबी? कायवश मैं नहीं आ सका।

पूरबी खिन्न हँसी—वेश्या के लिए यदि प्रतीक्षा का कुछ मूल्य हो तो मैं भी शायद...बीच में पृथीश कह उठा—सच कहता हूँ पूरबी, उस दिन के अपने आचरण के लिए मैं लज्जित हूँ।

‘तो माफी माँग लीजिए न। बात वहीं पर खतम हो जायेगी। बस एक हलकी-सी माफी। चोट चाहे कितनी ही गहरी हो; किन्तु माफी के छोटे शब्द ही तो उसके लिए बहुत हैं न!’

पूरबी के कंठ से उस दवे हुए परिहास को सुनकर पृथीश गंभीर हो उठा।

दबी आँखों से पूरबी ने उसे देखा। कहा—आप अब न बोलें पृथीश बाबू, खून अब तक बह रहा है। डाक्टर अभी आता ही होगा।

पृथीश चौंका—डाक्टर? किसलिए?

‘आप के लिए बुला भेजा है।’

‘इसकी क्या जरूरत थी? किसे बुलाया है?’

पृथीश की अस्थिरता, घबराहट पूरबी से छिपी न रह सकी। वह धीरे से बोली—पड़े रहिए।

पृथीश उठकर बैठने लगा। खून बह चला और पूरवी उसे पकड़कर सुलाने लगी। इसी वक्त कमरे का दरवाजा खुला और कमलेश ठीक सामने आकर खड़ा हो गया।

‘तुम हो पृथीश ? मैं कहीं कोई और होगा। बीमार पड़ गये हो ?’

प्रश्न चाहे सीधा रहा हो, चाहे यों ही कहा गया हो। जो कुछ हो, किन्तु कमलेश के उस प्रश्न को सुनकर पृथीश का मुँह लाल पड़ गया। एकदम वह उठकर बैठ गया।

पूरवी जरा हटकर खड़ी हो गई—देखिए न कमलेश बाबू, यह उठ उठकर भागते हैं। खून ज्यादा निकल रहा है।

तब तक पृथीश उठकर खड़ा हो गया। कमलेश की आंखें मुँह फेरकर उसने कहा—अपनी कार पर आये हो न ? चलो, मुझे घर तक पहुँचा दो।

‘ठहरो पहले पट्टी बाँध दें। कैसे लग गया तुमको ?’

‘मोटर एक्सीडेंट हो गया था—इस मकान के सामने। जब आँखें खुली तो अपने को यहाँ पाया।’

‘ऐसा, तो पूरवी बाई ने तुम्हारी जान बचाई। बैठ जाओ। देखूँ तो क्या बात है।’

‘नहीं नहीं, गाड़ी पर देख लेना। इस घर में तो मेरा दम घुट रहा है कमलेश।’

पूरवी ने मस्तक नत कर लिया। अभी-अभी जो व्यक्ति उससे ऐसा सदय व्यवहार कर रहा था, लोकनेत्र के बाहर जिसने अनायास उसका अपवित्र हाथ पकड़ लेने से भी द्विधा न की थी, किस परिस्थिति में पकड़कर वह अभी-अभी उसी जीवनदात्री के घर की वायु तक को अपवित्र कह सका, इस बात को विचारकर पूरवी मलिन हँसी। पूरवी को देखकर यही लगता था कि पृथीश के इस रुढ़ बर्ताव के लिए न उसे खेद था न दुःख। वरन जो कुछ था, यदि उसे पृथीश समझ सकता तो शायद वह अपना सिर पीट लेता या पूरवी के मस्तक में कील ठोक देता।

पूरवी के नेत्र मानों व्यङ्ग्य परिहास से यही कह रहे थे, भीरु, कापुरुष,

इसी हृदय के बल पर तुम वीर बनना चाहते हो ? ठुमरी और ख्याल की आलोचना करते हो ? यदि तुम्हारे उस वीरत्व की सम्भ्यता का चरम उद्देश्य और सार्थकता मनुष्यत्व को पशुत्व में परिणत करने ही हो, तो उस सम्भ्यता, उस वीरत्व को मैं दूर से नमस्कार करती हूँ। उससे वेश्या का जीवन दस-गुना भला है।

पृथीश का व्यवहार कमलेश को जाने कैसा अशोभन-सा लगा। वह पूरबी के निकट चला गया, कहा—बाईजी, तुमको बड़ी तकलीफ हुई। पृथीश कुछ अच्छा हो जाय, तब हम दोनों आयेंगे।

‘मेहरबानी है आप लोगों की। घर आपका है, चाहे जब आयें। मेरा तो यही पेशा है।’

पृथीश अपने बर्ताव से अनुत्तम-सा हो गया। उसका स्वभाव ही था कि जिस परिमाण में वह जितनी जल्दी रुष्ट हो जाता, ठीक उसी परिमाण में उतनी ही जल्दी वह ठण्डा भी पड़ जाता था और अनुत्तम होता था।

मित्रगण उसे चिढ़ाकर कहते—औरतों-सी नजाकत लिये तू वीर बनने के लिए क्यों मरा जाता है ? पृथीश झुंझलाकर रह जाता। मित्रों से मिलना छोड़ देता। मित्र थे ही कितने ? किसी से उसकी नहीं पटती थी। वह तो एक कमलेश था, जो न कभी उसकी समालोचना करता, न कुछ।

हाँ, तो अनुत्तम पृथीश कोमल हो कुछ कहने को हुआ, तब तक पूरबी ने बिदा का नमस्कार कर दिया—नमस्कर।

‘नमस्कार।’—कहकर पृथीश कमलेश के सहारे कार पर बैठा। और पूरबी ने कमरे का द्वार भीतर से बन्द कर लिया।

[२२]

दोपहर ढल चुका था। प्रायः चार बज रहे थे। पुस्तक बन्द कर रूपरेखा उठ पड़ी। जम्हाई लेती हुई ऊपर के कमरे में खिड़की के सामने खड़ी हो गई। ऊपर सोने के बड़े-बड़े कमरे, बराण्डे, बाथ-रूम, ड्रेसिंग-रूम सब थे, लम्बी चौड़ी छतें थीं। नीचे कहीं इससे अधिक कमरे, रसोईघर, भण्डार, दालानें, बैठक, भोजन का कमरा, ड्राइंग-रूम ये सब थे। ऊपर के कमरे में

गृहवासी सोते थे। सभी के लिए दो-दो कमरे थे। ठाकुर-घर नीचे था। उसी से लगा हुआ बृहत् उद्यान। लायब्रेरी बैठक के बाद ही थी।

पिट पिट पिट पिट करती हुई पृथीश की छोटी कार कमलेश के फाटक पर रुकी। पृथीश ने अभी कार खरीदी थी। खिड़की से रूपरेखा ने देखा। शीघ्रता से वह ड्राइङ्ग-रूम में गई। जरा बाल वाल ठीककर, थोड़ा पाउडर मुँह पर लगाकर नीचे आने के लिए वह प्रस्तुत होने लगी।

अनुत्तम पृथीश कार पर से उतरा। सविता के प्रति अपने उस दिन के बर्ताव के लिए वह अनुत्तम हो रहा था। कमलेश के मुँह से जब से उसने सुन लिया था कि सविता विवाहिता है, उसी घड़ी से अनुताप में वह जला जा रहा था। बेचारी लड़की, ऐसी स्थिति में तो उसने उचित ही किया। यदि वह प्रलोभन में पड़ शादी कर लेती, यदि उस पूर्व विवाह की वार्ता गुप्त रखती, तो किसी को क्या पता चलता? ऐसी ऐसी बातें विचारता पृथीश केवल अनुताप ही नहीं, वरन् सविता के प्रति विराट् श्रद्धा सम्मान अनुभव कर रहा था, और तभी से उसके प्रति उसका स्नेह उमड़ रहा था।

अपने उस दिन के व्यवहार के लिए यद्यपि पृथीश लज्जित, अनुत्तम हो रहा था, फिर भी एक अपरिचित उल्लास हृदय में लिये, शीघ्र गति से दालानों, कमरों को पार करता ड्राइङ्ग-रूम में पहुँच गया।

ड्राइङ्ग-रूम के द्वार पर उसकी सविता से भेंट हो गई। साड़ी का आँचल कमर में लपेटे, मैला-सा झाड़न हाथ में लिये वह उसी ओर आ रही थी।

पृथीश को देखकर खुशी से सविता का मुँह कमल-सा खिल उठा, किन्तु दूसरे पल विवर्ण हो गया। कदाचित् उस दिन की बात उसे याद हो आई हो। और फिर वैसी ही अप्रिय वार्ता होने की उसे आशङ्का रही हो।

पृथीश के नेत्र में यह विवर्णता छिपी न रह सकी। साथ ही लज्जा, अनुताप ने उसे ऐसा दबाया कि वह मुँह तक न उठा सका।

‘आइए भाई साहब।’—कमरे के बीच में खड़ी रूपरेखा परम आदर से उसे सम्बर्द्धना कर रही थी। पृथीश मानों उपस्थित कठिन परीक्षा के हाथ से बच-सा गया। उस आह्वान की आड़ में अपनी लज्जा की ग्लानि छिपाने

के लिए अत्यन्त आग्रह एवं अस्वभाविक रूप से वह आगे बढ़ा—भाभी, मैं तुम्हीं को तो ढूँढ़ता फिर रहा हूँ।

पृथीश के आचरण से सविता को एक जोर का धक्का लगा। मानों उस आचरण ने उससे साफ कह दिया कि जिस स्नेह की इतने दिनों केवल तू ही अधिकारिणी थी—वहाँ अब तेरा स्थान नहीं है। अभी उन दिन तक यह खोजने ढूँढ़ने की बात उसी से कही जाती थी। और फिर सन्ध्या-सभा किस मधुरता से भर उठती थी। जाने कितनी ही सुनी कहानियाँ फिर से दुहराई जाती थीं, जाने कितने ही स्नेह के अत्याचार, जिन्हें वह छोटी बहन के अधिकार से इसी व्यक्ति पर किया करती थी और उन अत्याचारों को यही खड़ा हुआ व्यक्ति किस विपुल स्नेह, आदर से वरदान सा उठा लेता था। कभी मा और कमलेश भी जुट जाते थे। कमलेश उसे चिढ़ाने लगता था और एक छोटी बालिका-सी वह माता से अनुयोग करती रहती थी। वे बातें कहीं भुलाई जाती हैं? हाँ—यही था, यही व्यक्ति उन सब बातों का नायक—अभी उस दिन तक! हाहाकार से सविता का जी भर उठा, उसने एक बार उस ओर आँखें उठाईं, इसके बाद आँसू बहाती जल्दी जल्दी बाहर निकल गई।

वह चली गई तो जाने दो। इतनी समझ रूपरेखा में कहाँ थी, जो एक अपढ़ लड़की के लिए सोच विचार करने बैठ जाती? रूपरेखा ने हँसकर कहा—कैसा सामञ्जस्य है पृथीश बाबू, अभी जरा पहले आप ही के लिए उतावली हो रही थी। बैठिए।

‘सच भाभी? तुम मेरी याद कर रही थीं?’

‘भूठ क्यों कहूँ। आज नहीं, वरन कई दिनों से आपकी प्रतीक्षा में हूँ। सोचा—शायद केटा चले गये होंगे।’

‘गया नहीं। रुपये बटोरने में लगा हूँ।’

‘भूकम्प-पीड़ितों को सहायता तो पहुँचती होगी?’

‘पहुँचती जाती है। किन्तु सोचो तो भाभी, उस मुट्ठी-भर सहायता से वहाँ होता ही क्या है? जरा विचारो तो सही—जिन्दगी भर की कमाई को,

घर-द्वार और घर के उपार्जनक्षम व्यक्तियों को पृथ्वी ने पल मारते निगल लिया। उन लुटे हुए भिखमंगों के लिए उसी पृथ्वी से अब कितनी सहायता की जरूरत है ?'

कुछ सोचकर रूपरेखा ने कहा—बहुत की। आपका कहना ठीक है। पृथ्वी ही उसकी देनदार है।

कमलेश को गृह में प्रवेश करते देखकर रूपरेखा ने सिर का कपड़ा जरा ठीक कर लिया। फिर अपनी बात पूरी कर दी—और वह देगी भी।

‘किस बात की आलोचना चल रही है ?’—एक कुर्सी पर बैठकर कमलेश ने पूछा।

‘भूकम्प पीड़ितों की।’—पृथ्वीश कहने लगा—परन्तु भाभी, तुम्हारा विचार गलत है। जरा बाहर निकलकर देखो तो पता चले। यहाँ पर अमीरों का राज्य है। उनके लिए सहानुभूति, सहृदयता बहुत है ; किन्तु गरीब और बेकारों के लिए केवल घृणा है। एक तो बेकारों की समस्या दिन पर दिन जटिल होती जा रही है, उस पर इस भूकम्प ने सर्वनाश कर दिया। जहाँ भी माँगने जाओ, निराश होना पड़ता है। किसी ने कुछ दे भी दिया तो थोड़ा। उससे होता क्या है ?’

क्यों, दे ? क्या उन बेकारों के हाथ पैर नहीं हैं ? यदि हम कमाकर, मेहनत कर पेट भरते हैं, तो क्या दूसरों का घर भरना भी हमें जरूरी है ? वे भी क्यों नहीं कमाते ?—कमलेश ने कहा ?

‘यही तो एक बात है कमलेश। उन अपढ़ों के लिए हमारे यहाँ न सहानुभूति है, न काम है। उन लाखों बेकारों के लिए न काम की व्यवस्था है, न कुछ। फिर वे जायें कहाँ, करें क्या, खायें क्या ?’

‘राख खायें, मिट्टी खायें। हम क्या जानें वे क्या खायें ? दुनिया में आते वक्त हम किसी का ठेका थोड़े ही लेकर आये थे।’—कमलेश ने कहा।

व्यथा की छाया पृथ्वीश के मुँह पर व्याप गई—वाह डाक्टर, खूब कही। हम अमीर तो उनके लिए कुछ व्यवस्था करते नहीं, ऊपर से उन्हीं पर अपना दोष डाल देना...

उन्होंने लिखा-पढ़ी क्यों नहीं किया ?'

कमलेश के प्रश्न से पृथीश अङ्गारे-सा जल उठा—एक तो उन्हें सुविधा नहीं दी गई। दूसरी बात यदि लिख-पढ़ ही लेते तो कौन-से पर लग जाते ? एम० ए० बी० ए० की डिग्री लिये हुए कितने ही बेकार बैठे हैं, कुछ पता भी है। तीसरी बात हम उच्चपदस्थ कमचारी, शिक्षितों की क्रूरता से और स्वार्थ से ही वे भूखों मर रहे हैं। ऊँचे पद पर बैठे हम हर महीने हजारों रुपये लूट रहे हैं। जो वास्तविक मेहनत कर रहा है, उसे भूखों मरना पड़ रहा है। 'नहीं' के बराबर उसे कुछ मिल जाता है और बस। और हमारे घर रुपये खर्चे होते हैं स्त्रियों के विलास में।

उसके कहने के ढङ्ग से कमलेश को हँसी आ गई। कमलेश ने रेखा से कहा—देखा न पृथीश को ? अन्त में तुम्हीं पर चोट कर बैठा।

'बिल्कुल ठीक कह रहे हैं वह। यदि सच पूछा जाय तो हम स्त्रियाँ ठीक उसी भाँति दोषी हैं, जैसे पुरुष।'।

दयार्द्र दृष्टि से पृथीश ने रूपरेखा को देखा—नहीं भाभी। तुम अबला स्त्रियाँ भला क्या कर सकती हो ?

'क्यों नहीं भाई साहब ? जितना तुम कर सकते हो, ठीक उतना ही हम भी कर सकती हैं ?'

पृथीश के मुँह पर दबी हँसी क्रीड़ा करने लगी। वह चुप हो रहा।

परन्तु कमलेश से चुप न रहा गया—जरूर-जरूर। यदि हम युद्ध में जायें तो ये भी जा सकती हैं, प्रतिद्वन्द्वी की भरपूर तलवार के योग्य चाहे न भी हों। यदि हम मिट्टी खोद सकते हैं, तो ये भी खोद सकती हैं। और तारीफ यह कि हाथ में फोले भी न पड़ेंगे, न हाथ दुखेगा और न इलाज के लिए डाक्टर को बुलाना पड़ेगा। यदि हम...

उसे रोककर बीच ही में पृथीश कह उठा—तुम अविश्वासी, हमारे बीच क्यों बोलते हो ?

कमलेश आमोद से हँसने लगा।

परन्तु रूपरेखा के मुख-भाव का जरा भी परिवर्तन न हुआ। पति के इस

व्यंग से उसे किस परिमाण में आघात लगा है, उसे देखकर इस बात को समझ सकना असम्भव था।

पृथीश की ओर मुँह फेरकर शान्त स्वर से वह कहने लगी—स्त्रियाँ युद्ध में जाती ही थीं, क्षत्राणियों के वीरत्व की कहानी जगतप्रसिद्ध है। और मेहनत करना, मिट्टी खोदना? भाई साहब, मेरे नैहर का माली प्रायः बीमार रहता है। छोटे-छोटे बच्चे हैं। मैं बचपन से देखती चलीं आ रही हूँ, मालिन दिनभर बगीचे में मेहनत करती है। जब उसकी लड़की बड़ी हो गई तो मा-वेटी दोनों ही बगीचे का काम करतीं। केवल इतना ही नहीं, समय निकाल कर खेतों से घास लातीं और उसे बेचतीं। प्रातः चार बजे के पहले ही जा-जाकर चक्की पीसती हैं।

‘ठीक है भाभी। गरीब की स्त्रियों को आदत रहती है, किन्तु यदि हमारे घर की स्त्रियाँ ऐसा करे तो तुरन्त बीमार पड़ जायँ।’

‘कुछ नहीं। हम मनुष्यों की प्रकृति में दो दिशाएँ हैं। एक है असहिष्णु, उच्छृङ्खल पुरुष, दूसरी गृहवासिनी अवरुद्ध नारी जो कि चहुँओर से नियम-कानून, माया-भय से जकड़ी हुई है। पुरुष बाहर जाता है, जगत् के नूतनत्व को देखने के लिए अस्थिर रहता है, विचित्रता के भीतर ही अपनी शक्ति को पुष्ट करना चाहता है, चाहता है—जीवन का सत्य। हम घर के कोने में दुबकती हैं, भंभटों से बचना चाहती हैं। चाहती हैं—शान्ति। अभ्यास, संस्कार, बन्धन और परम्परा में ही बैथी रहना चाहती हैं। न उसमें कोई चेष्टा है न उद्यम। दासत्व को ही हम वरदान समझती हैं।’

‘इधर आरामप्रियता मनुष्यमात्र का स्वभाव है, सां हम उसी गृह-वासिनी नारी प्रकृति में ओत-प्रोत हो रह जाते हैं। बस कठिनाई हमें यहीं पड़ जाती है। परन्तु उस पुरुष प्रकृति को जगाना तो हमारे ही हाथ में है और इसमें भाई साहब, स्त्री-पुरुष का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता है।’

पृथीश एकदम भाव-गद्-गद् हो गया—मेरी भाभी, बाहरी जगत् में आज तुम्हारी ही जरूरत है। वहाँ न कमलेश की जरूरत है न पृथीश की। जगत् की प्रयोजन है रूपरेखा से।

कमलेश जो चुप हो गया था, फिर वह वैसा ही चुप बैठ रहा गया। आज की यह सभा उसे जाने कैसी सूनी-सी लग रही थी। ऐसा क्यों लग रहा था सो वह स्वयं नहीं समझ पाता। लग रहा था उसे—मानों वह किसी गुरुजी की पाठशाला में आ गया हो। यहाँ जैसे उसका श्वास रुकना चाह रहा हो। अनुभव मात्र इतना कर रहा था कि कई महीने पहले इन सन्ध्या-सभा में जैसी खुशी की, लड़कपन की एक हलकी मुस्कान रहा करती थी वहाँ पर मानों महामहोपाध्याय का वेद-वेदान्त, दर्शनशास्त्र का गाम्भीर्य भर गया हो और बस।

‘आप बढ़ा रहे हैं पृथ्वीश बाबू। मेरे विचार से ऐसी ही निन्दा-स्तुति हम लोगों को गड़हे में गिरा देती है।’—रूपरेखा ने कहा।

परन्तु ये बातें सुनता कौन ? अपनी ही धुन में पृथ्वीश कह चला—तुम्हारी ही जरूरत है आज हमें भाभी। चलो मेरे साथ। क्वेटा का दृश्य अपनी आँखों देखो। उस मृतप्राय, हताश जीवन में जीवन-शक्ति का मन्त्र फूँक दो। नव-निर्माण के पथ में उन्हें अग्रसर कर दो। नेत्रहीन वृद्ध पुत्रशोक में आसन्न प्रसूता विधवा पुत्रवधू का हाथ थामे—इंट के स्तूप पर बैठा आत्महत्या का विचार कर रहा है। ऊपर से अविराम वर्षा, नीचे भूकम्प। कहीं लुधापीड़ित बालक मृत माता के स्तनों से चिपका हिम शीतल रक्त को चूस रहा है। न उनके लिए भोजन है, न वस्त्र, न आश्रय। हैं केवल इंट पत्थरों के ढेर गड़हे, नदी-नाले, फटी धरती। झाड़-पेड़ का कहीं चिह्न तक नहीं। कहीं हरियाली नहीं है। है एक विभीषिका, उजड़े गृहों का अन्तिम श्वास। त्रस्त, ध्वस्त, व्यथितों, लुधापीड़ितों का आर्त चीत्कार। अर्द्धमृत दबे हुए मनुष्यों का करुण श्वास। मुर्दों की दुर्गन्ध और है वहाँ के जल-वायु में आत्महत्या के लिए एक गहरा प्रलोभन। हत्यारा दैत्य मुँह फैलाये वहाँ खड़ा है। भाभी बचाओ देश को। उस हत्यारे के हाथ से क्वेटा को बचाओ। जीवन-शक्ति उसकी नसों में फूँक दो।

रूपरेखा के नेत्र झलझला आये। वह सहसा उठकर ऐसी चली कि मित्र-द्वय हतधाक रह गये। पाँच मिनट के बाद वह लौटी एक सन्दूक लिये। टेबल

पर उसे रखकर बोली—भाई साहब, यह मेरे जेवर हैं, ये क्वेटा-पीड़ितों के जरा से भी काम में आयेंगे तो मैं धन्य हो जाऊँगी। विचार न करें पृथीश बाबू, जेवर मेरा है और मैं ही अपने हाथ से दे रही हूँ।

कमलेश उठकर बाहर चला गया। कृतज्ञता-प्रकाश के लिए पृथीश ने मुँह उठाया, किन्तु तब कमरे में उसके सिवा द्वितीय कोई व्यक्ति नहीं था।

[२३]

श्रावण की वर्षा लीला-चञ्चल थी। आकाश-पथ में दुन्दुभी बज रही थी। दववालाएँ बिजली की दीवट उजियारे वर्षा की आरती उतार रही थीं।

तीन दिन से वर्षा एक-सी हो रही थी। रात सात बजे ही से राजपथ जनशून्य हो जाता।

कभी एक-आध गाड़ी मोटर निकल जाती, कभी एक छाता दीख पड़ता। कोई घुटने तक वस्त्र समेटे छपछपाता निकल जाता, बस।

सविता—वर्षा की बूँद-सी, सावन की गीत-सी सविता—कमलेश की लायब्रेरी में गुड़मुड़ैया हो कुर्सी पर बैठी थी। सामने टेबल पर किताब खुली हुई रखी थी। कमलेश निकट की कुर्सी पर बैठा कुछ लिख रहा था।

सविता सबक याद कर रही थी। परन्तु मारे भय के कुछ याद नहीं कर सक रही थी। बचपन से वह बिजली से डरा करती है। जब बिजली कड़कती, तो वह माता की गोद में ऐसी चिपक जाती कि हजार बार पुकारने पर भी मुँह न उठाती। तब माता वात्सल्य स्नेह से ओत-प्रोत उसका सिर थपथपाती। उस दृश्य को देखकर पिता मुसकराया करते। अब तो वे बातें उसे सपने-सी लगतीं। तब माता-पिता सोचते थे, वयोवृद्धि के साथ साथ कन्या का डर जाता रहेगा; किन्तु वैसा कुछ न हो पाया। वह अब भी वैसी ही डरती थी।

विवाह आदि के गोलमाल में कई महीनों से उसने लिखा-पढ़ा नहीं। अचानक एक दिन जब कमलेश को याद आ गई, तो उसने बक-भ्रूकर धूम मचा दी। फलस्वरूप भूला सबक याद करने के लिए सविता को पुस्तकों की धूल झाड़नी पड़ी, और पहले की तरह लायब्रेरी में बैठ जाना पड़ा।

जब वह कमलेश के प्रश्नों का कुछ भी उत्तर न दे सकी तब झुंझलाकर कमलेश ने कहा—सिर में गोबर तो भरा है। लो, बैठो यहाँ पर। मेरे सामने याद करो।

एक बद्ध शिशु की भाँति वह बैठ गई और कमलेश अपना काम करने लगा।

प्रत्येक कमरों-दालानों में बिजली जल चुकी थी। रसोइया रोटी बना रहा था। दासी-चाकर रसोईघर की दालान में बैठे गप्पें हाँक रहे थे। गृहिणी ठाकुर-घर में बैठी माला जप रही थीं। रूपरेखा ऊपर अपने कमरे में थी।

कड़-कड़-कड़-कड़,—वज्र-निनाद से भूचर, खेचर कम्पित हो उठे। साथ ही बिजली का तीखा प्रकाश। खिड़कियाँ खुली थीं। वह तीखा प्रकाश सविता के नेत्रों में भर-सा गया। वह जोर से चिल्लाई और एकदम जाकर कमलेश पर गिर पड़ी। कमलेश ने उस कम्पिता तरुणी को बाँहों में समेट लिया।

परम आदर से उसके सिर पर थपकियाँ दे-देकर कमलेश ने पूछा—सविता मैं जो हूँ। डर गई थीं तुम ?

‘डर लग रहा है।’—वैसे ही कम्पिता, सविता ने कहा।

‘डरती क्यों हो, डर किस बात का ? मैं तो हूँ ? सुनती हो ?’

सविता ने उन बातों को मन-प्राण से सुना। उन बातों की झंकार उसके रोम-रोम में हो गई—कदाचित् सतत के लिए। एक निर्भरशील पक्षि शावक—सी उसने उस निर्भय आश्रय को बाहु-बन्धन में जकड़ लिया। तब निश्चिन्त आराम से उस विशाल हृदय पर सिर रखकर उसने आँखें बन्द कर लीं।

तो अपना कहने के लिए इस बड़ी दुनिया में अभी भी उसका कोई है। वह अकेली नहीं है। अत्यन्त निश्चिन्त और निरुद्वेग भाव से वह उस विशाल हृदय से लिपटी-लिपटी शान्त से नींद की गोद में गुम-सी हो गई।

बाहर की वर्षा धीमी पड़ गई। मेघ-गर्जन शान्त हुआ। परन्तु सविता वैसी ही रह गई और कमलेश उसे हटाना भूल गया। एक अपरिचित सिंह-रन से कमलेश सम्मोहित-सा हो रहा। उसे लगा, कोई अद्भुत वस्तु सविता के स्पर्श से निकलकर उसके रोम-रोम में समा रही है।

प्रेयसी नारी के उद्दाम आलिङ्गन में उसका पुरुष-हृदय सम्मोहित-सा हो रहा—समाधिस्थ-सा।

द्वार का पर्दा हिला। किसी ने उसका हिलना न जाना। दूसरे पल पृथीश सामने आकर खड़ा हो गया। और पल-पल में वितृष्णा, घृणा से उसके नेत्र की दृष्टि कठोर हो गई। अभी अभी वह सविता के लिए कैसा आदर-सम्मान लिये घर से भागता चला आ रहा है। उस सती प्रतिव्रता की आरती उतारना उसने दुनिया के सामने चाहा था न।

इस कुलटा की ? नहीं नहीं। वह क्या जानता था कि इस शिशु-हृदय में ऐसी काली नागिन छिपी बैठी है। पृथीश अपने आचरण से दुःखी था, तो वह आया था सविता से क्षमा माँगने। उसे सती के सम्मान से सम्मानित करने आया था वह—उस छोटी लड़की के सत् साहस का पुरस्कार देने—अन्तर की श्रद्धा से। आया था उसे बहन कहकर पुकारने को।

पृथीश को लौटते देखकर कमलेश सहम गया। कुर्सी पर बैठ गया। उसे अपना यह अस्वाभाविक श्वास अद्भुत लगने लगा। सविता उसकी कुर्सी पकड़कर खड़ी हो गई।

‘पृथीश भैया, आये हो तो बैठ जाओ। इस आँधी पानी में कहाँ जाओगे?’—अकम्पित स्वर से सविता ने पुकारकर कहा।

पृथीश लौटा, विराट् विस्मय से, निविड़ घृणा से उसने सविता को देखा, फिर अपने ही अनजान में एक कुर्सी पर वह लड़ से बैठ गया। ‘भाभी कहाँ हैं ? उन्हीं से मिलने आया हूँ।’ यह प्रश्न किससे किया गया, यह समझना जरा कठिन था।

‘मिल लेना, तुम्हारी भाभी कहीं भागी थोड़े ही जाती हैं। बैठो पान-वान खाओ फिर मिल लेना। हम भी तो आदमी हैं।’—कमलेश अम्लान हँसा, और हँस सकने से उसका जी कुछ हलका पड़ गया।

किसी ने कुछ उत्तर न दिया। तब कमलेश कहने लगा—देखा न सविता, नई भाभी पा गये तो हम पुराने सङ्गी-साथी को यह बिल्कुल भूल गये।

‘परन्तु आज तो मैं पृथीश भैया से कहानी सुने बिना रहने की नहीं।’—छोटी बहन सी सविता कह उठी—नहीं, उसके स्वर में जरा भी द्विविधा नहीं थी। पृथीश ने उस ओर लौटकर भी न देखा फिर उत्तर देने की कौन कहे।

चलते-चलते पृथ्वीश कहता गया—कमलेश, भाभी से कह देना—आज मुझे जल्दी है। कल उनसे मिलूँगा। जेवर बिक चुके हैं और विक्री से दस हजार केटा भेज भी दिये हैं।

जूते की आहट से पता चला कि वह चला गया। कमलेश ने कहा—जाने कैसा पागल है।

सविना ने अपना विवरण मुख फेर लिया। ऐसे बड़े बड़े आघातों को वह कैसे सहे? बिना कारण पृथ्वी उसे पैरों तले रौंदती रहेगी और वह सब कुछ सहती ही चली जायेगी? किन्तु क्यों? आँसू से उसका जी भर आया। भाराक्रान्त चित्त से वह कमरे के बाहर निकल गई।

कमलेश पुस्तकों को बटोरने लगा। नौकर ने पुकारा भोजन तैयार है। हाथ-मुँह धोकर वह भोजन करने चला गया।

‘पृथ्वीश अभी आया था न?’—सत्यभामा ने कमलेश से पूछा। कमलेश भोजन पर बैठा था।

‘आया था मा।’

‘तो ऐसी जल्दी चला क्यों गया?’

‘उसकी बातें वही जाने मा। कहता था—भाभी से मिलने आया हूँ।’

क्या कहा, भाभी से मिलने आया था?—गृहिणी का मुँह गम्भीर हुआ—नहीं, ये बातें मुझे पसन्द नहीं हैं कमला। वह घर का लड़का-सा जरूर है। किन्तु फिर भी दो दिन में नई वहू से ऐसा हेलमेल खटकता है। दुलहिन को लज्जा-शर्म कुछ कम है। किन्तु ऐसा बेहयापन मेरे घर कैसे चल सकेगा?

सो तो तुम समझो मा लिखी-पढ़ी बहू है। वह है बहू और तुम ठहराई सास।’ कमलेश आमोद अनुभव कर रहा था।

गृहिणी चिढ़ गई—हाँ—हाँ, मैं ही समझूँगी। तू खाली दाँत निकालकर बैठाकर। बस। सुरसती, जरा चली तो आ, रबड़ी का कटोरा देती जाओ।

सविता रबड़ी लेकर पहुँची।

गृहिणी ने कहा—तुम और दुलहिन रोटी खा लो। नौ बज रहे हैं।

‘दादी भोजन न करेंगी अम्मा ।’

‘क्यों ?’

‘कह रही थीं सिरदर्द ।’

‘सर में दर्द हो नहीं, तो क्या । चौबीस घण्टे अंटारी पर चढ़ी बैठी रहती हैं । न काम, न काज । दिन-भर किताब पढ़ना और पृथीश से गर्पे करना । बस, दो काम तो हैं ही ।’

‘चिल्लाती क्यों हो अम्मा । सुनो तो । उनके सिर में ज्यादा दर्द है ।’

‘क्या उससे मैं डरकर चलूँ ? धीरे क्यों बोलूँ ? आई है उसके लिए वकालत करने । एम० ए० पास है तो हो । हम गृहस्थ के घर ऐसा बीबीयाना ठाठ न चलेगा ।’

‘बीबी बहू लाई हो, फिर वह अपना ढङ्ग कहाँ छोड़ आती ?’—कमलेश अपने को गम्भीर दिखलाने की चेष्टा कर रहा था ।

‘तुमसे तो मैं नहीं बोलती हूँ कमला । जा, अपना काम देख ।’

कमलेश हँसने लगा ।

गृहिणी भुनभुनाती हुई सविता को खिलाने बैठ गई । ‘ले, बैठ जा । पूरी ठण्डी हो रही है । अरी सतिया, तेरे लिए क्या मैं अपना सिर पीट लूँ ? आज मैंने नहीं कहा, तो बाल में कंधी तक न की गई । कमलेश ने मेरा जी आफत में डाल दिया । इस पराई लड़की ने मुझे पागल बना दिया ।’

‘तो पराये की लड़की को बिदा कर दो न मा ।’

कमलेश की हँसी रुक नहीं रही थी, सविता भी हँस पड़ी ।

‘बिदा कर दूँ ? तू होता कौन है उसे बिदा करनेवाला ? तेरे कहने से क्या मेरी अपनी लड़की पराई हो जायेगी ? दुनिया मेरी सुरसती के पीछे हाथ धोकर पड़ी है । उससे सब कहती हैं—यह तेरी मा नहीं है । मुँहजलियों को काम न धन्धा, सब के लक्षण न उतार लूँ तो मेरा नाम सत्यभामा नहीं । अरी बिटिया, तोरई की तरकारी तो जरा ले ले । मैंने अपने हाथों बनाई है ।’

हँसता हुआ कमलेश निकल गया । मातृ हृदय के इस स्नेहमय अंश से वह भली भाँति परिचित था । यह पराये की लड़की आज उनकी कितनी अपनी

हो गई है, इस बात को उसकी तरह शायद दूसरा कोई नहीं जानता था। कदाचित् वह पराये की लड़की भी शायद इस बात को उसकी तरह नहीं जानती हो।

दिन दोपहरी में अँधेरी छाई थी। वर्षा अविराम भर रही थी—भर-भर-भर-भर। पवन के झोंकों में बूँदें बस-सी रही थीं। कमलेश कहीं काम पर गया था। लायब्रेरी में बैठी सविता पाठ याद कर रही थी।

रूपरेखा ने कमरे में प्रवेश किया। सविता का मन यों ही पढ़ने में लग नहीं रहा था। रूपरेखा की उपस्थिति से उसके लिए एक न पढ़ने का बहाना-सा मिल गया।

‘आओ दीदी।’—आग्रह से सविता ने पुकारा।

टेबल पर हाथ धरे रूपरेखा खड़ी हो गई—मैं जानती थी कि तुम लायब्रेरी में हो, सो चली आई।

सविता के नेत्रों में प्रच्छन्न हँसी की छाया पड़ गई। जी भर आया। तो उसका वैसा सोचना कि विदुषी रूपरेखा उसे अवहेलना की दृष्टि से देखती है, मात्र भ्रम था। रूपरेखा यहाँ पर चली आई है और उसी के लिए आई है।

भाव-गद्गद सविता कह उठी—खड़ी क्यों हो? बैठो न।

‘बैठूँ? नहीं बहन, अभी चली जाऊँगी। आई हूँ काम से।’

‘वह आई है काम से? उसके लिए नहीं आई?’

सविता का मुँह कुम्हला गया। वह चुप रही।

‘जितनी किताबें ऊपर थीं, उन्हें पढ़ लीं। लायब्रेरी की इन भरी आनमारीयों को देख-देखकर मेरा जी ललचाता है सविता।’

‘पढ़ो न इन्हें भी।’

‘वे नाराज न होंगे?’

‘वे क्यों नाराज होने चले?’

‘तुम्हारे सिवा किसी को छूने नहीं देते। मैं ले जाऊँ और कहीं कुछ कढ़ने लगे तब?’

‘कुछ नहीं कहेंगे। मैं कहती हूँ, कुछ न कहेंगे।’—जल्दी से सविता ने कहा।

‘सच पूछो न, इस लायब्रेरी पर मुझे बड़ा लोभ है। किन्तु संकोच लगता है, कहीं कुछ कहने न लगे ? मेरे विचार से तुम्हारे भाई दुनिया में केवल पुस्तक को चाहते हैं। परन्तु मुझे विस्मय है, ऐसे भाई की बहन होकर तुम्हें पुस्तकों से रुचि क्यों नहीं है ?’

‘कौन जोने क्यों ?’—अनमनी-सी सविता ने उत्तर दिया।

‘तुम्हारे भाई ने बचपन से तुम्हें क्यों नहीं पढ़ाया ?’

‘मेरे भाई हैं कहां जो मुझे पढ़ाते ?’

विस्मय से रूपरेखा ने उसे देखा, फिर कहा—फिर यह तुम्हारे कौन हैं ?

विस्मय-विमूढ़ सविता स्तब्ध रह गई। ऐसा विचित्र प्रश्न उसके इस छोटे-से जीवन में आया ही कहां था जो उत्तर देती ? सच ही तो है, वह उसके कौन हैं ? सविता विचार में पड़ गई। हृदय में खोजने-ढूँढ़ने की जरूरत तो नहीं पड़ती, वहाँ पर इनका परिचयपत्र प्रतिरन्ध्रों में छपा हुआ है ; परन्तु इतने पर भी दुनिया के सामने उनका परिचय देने योग्य शब्द नहीं है, भाषा नहीं है। यह कैसी उलझी हुई पहेली है ? कौन हैं वह उसके ? कौन ? कौन ? अरे तो वह उनका कौन-सा परिचय दे ? एक पराये की लड़की उस पराये की लड़की से परिचय पूछ रही है, सम्बन्ध-जिज्ञासा कर रही है—एक पराये का। पूछ रही है वह—गर्वित अभिमान से। क्यों ? क्योंकि दुनिया को परिचय देने योग्य भाषा उसके निकट है। सम्बन्ध कहने योग्य सम्मानित शब्दों की कमी उसके पास नहीं है, वह उन शब्दों को कहने की अधिकारिणी है। और एक पराये की लड़की वह है, जो कि अपने प्रियतम का परिचय दुनिया को नहीं दे सकती। कैसी है यह जटिल पहेली ? अदृष्ट का यह कैसा निष्ठुर परिहास है ? अब इस गर्विता नारी को वह क्या उत्तर दे ? क्या, क्या ?

रूपरेखा ने उसे तीक्ष्ण दृष्टि से देखा। एक व्यंगी की मुसकान उसके ओठों पर लिपट रही थी। पूछा—चुप क्यों हो गईं सविता ?

‘किसका परिचय माँगती हो तुम ? क्या पूछ रही हो ?’—स्वप्न देखती-सी सविता बार-बार पूछने लगी।

‘मेरे पति तुम्हारे कौन होते हैं ?’

‘कोई नहीं ।’—अचानक कोई पीछे से कह उठा ।

‘कोई नहीं ।’

तरुणीद्वय ने पीछे लौटकर देखा । कमलेश खड़ा था । उसके मुँह से अपने आप ये बातें निकल गई थीं । बाहर से अभी वह लौट रहा था और रूपरेखा का अन्तिम प्रश्न उसके कानों तक पहुँच गया । उत्तर देकर वह मृदु-मृदु हँस रहा था ।

‘कोई नहीं ?’—सविता ने सुना । इसके बाद कुछ कहने-सुनने के लिए कुछ शेष न बच पाया । उसे लगा—आज उसके सब कुछ का निबटारा हो गया । हृदय के रन्ध्रों में संकृति होने लगा—कोई नहीं, कोई नहीं । इसके आगे वह और कुछ सुन न सकी । मतवाली-सी लटपटाती कमरे से निकल गई ।

टेबल पर हेट रखकर कमलेश ने पुकारकर कहा—पढ़ने का वक्त आया तो भागने लगीं । सबक देती जाओ सविता ।

सविता वैसे ही निकलकर चली गई ।

विस्मय से कमलेश हतवाकू हो रहा । उसकी समझ में न आया कि सविता को हो क्या गया ?

गम्भीर मुख से रूपरेखा चल पड़ी ।

कमलेश कपड़े बदलने लगा । अभी की बातें उसे जरा खटकने सी लगीं । किन्तु फिर भी भूल का स्थान उसकी दृष्टि से अचूका ही रह गया ।

‘भूख नहीं है ।’ जो कहकर सविता पड़ रही तो फिर एकदम रात उठी ।

सत्यभामा इस बार उसे आकर देख गई थीं । कमलेश भी नवज देख गया था ।

सविता रोते रोते सो गई । उसकी नींद गहरी रात में खुली ।

तब भी मेघ-गर्जन एक-सा था । सविता उठकर बैठ गई । कान के पर्दे फटने से लगे । एक आर्त चीत्कार से उन पर्दों में एक-सी झंकार थी—कोई नहीं, कोई नहीं ।

सविता उठकर खड़ी हो गई । ‘कोई नहीं ?’ हाँ, यही शब्द तो थे, और

कहा था उसी के प्रीतम ने। कहा था उसी ने, जिससे अभी उस दिन तक कहा था—मैं तो हूँ। और जिसकी बातों पर विश्वास किये वह बैठी हुई थी। उसी अदने ने आज अनायास एक उसी-सी स्त्री के सामने कह दिया कि वह उसकी कोई नहीं है।

कहा कब ? जब उसके सच्चे परिचय का सन्धि-स्थल उपस्थित हुआ तब उसने कह दिया—कोई नहीं है। और ऐसे ही एक की वह पूजा करती है ? अचेत सी सविता एक श्वास में आँगन में आकर खड़ी हो गई। हृदय के स्पन्दन में गूँजने लगा—‘कोई नहीं, कोई नहीं।’ वर्षा की बूँद उसके सिर पर भर-भर कर बहने लगी—‘कोई नहीं, कोई नहीं।’

कड़-कड़-कड़-कड़—आकाश की बिजली व्यङ्ग से हँस पड़ी। व्यङ्ग से ? हाँ सविता को लगा बिजली व्यङ्ग से हँस पड़ी—कोई नहीं, कोई नहीं। सविता उसी वर्षा में बैठ गई। बार-बार बिजली चककने लगी। उसी चमक को आँखों में भरे सविता की दृष्टि आकाश के प्रति निबद्ध हो रही। पृथ्वी में कोई नहीं है तो न रहे, फिर यह बिजली का प्रकाश तो उसका अपना है न ? डर ? नहीं, कुछ नहीं। दुनिया ने यदि उसे अनायास अस्वीकार कर दिया है, यदि अंगुल भर जगह उसके लिए न रखी हो, तो न रखे। किन्तु आकाश की बिजली उसे कैसे अस्वीकार कर सकेगी ? हाँ, वह समा जायेगी उसी प्रकाश में, वह निश्चिन्त हो जायेगी।

[२५]

प्रातः के पहले वर्षा की बूँदें रुक गईं। सविता कुछ सचेतन हुई। किसी तरह कमरे में आई। पूरे शरीर में दर्द हो रहा था। किसी तरह वस्त्र बदलकर पलङ्ग पर पड़ रही। जब उसकी आँखें खुलीं तब धूप फैल चुकी थी। चेष्टा करके उसने आँखें खोलीं। उबर के मारे शरीर जल रहा था।

सुरसतिया, सुरसतिया—पुकारती हुई जब सत्यभामा उसके सिरहाने पहुँचीं तब वह आँख तक नहीं खोल पा रही थी।

घर में कोलाहल मचा। डाक्टर आया। कमलेश कुर्सी जमाकर उसके सिरहाने बैठ गया। तब कहीं गृहिणी उठकर गृहस्थी के धन्धों में लगीं।

साग-भाजी काटने सत्यभामा बैठी थीं। पड़ोसिन हरिमती पहुँचीं—जीजी, रामू कह रहा था कि बिटिया का जी खराब है। सुनते ही चली आई, क्या बात हो गई ?

‘कौन जाने बहन। सतिया मेरी बेखबर पड़ी है।’

नौकर ने आकर पूछा—माजी, मछली कितनी आयेगी ?

रसोइया पहुँच गया—दिन चढ़ आया है, अभी तक रसोई का सीधा सामान कुछ नहीं मिला माजी।

सत्यभामा झुल्ला पड़ीं—मेरी घर-भरी लड़की बेहोश पड़ी है। और तुम सबको पेट की फिकर पड़ी है। नहीं मिला सामान तो मैं क्या करूँ। सब काम मेरी सतिया देखती थी। अब भण्डार कौन निकाले ?

हरिमती ने पूछा—काहे जिज्जी, दुलहिन नहीं करती हैं कुछ ?

भौंहे चढ़ाकर गृहिणी कहने लगीं—अरे बाप रे, वह ऐसे नीच काम कर सकती है ? वह एम० ए० पास बहू है बहन। समझीं न ? दिन-भर किताब पढ़ना, मर्दों-सा बैठकर खाना और अटारी पर चढ़कर बैठे रहना। मैं तो उसकी नौकरानी ठहरी जो दिन भर काम किया करूँ। मेरी लड़की उसकी गुलामी किया करे। बाप के घर चूल्हा फूँका करती थी सो भूल गई।

रूपरेखा सामने आकर बैठ गई—अम्मा, तुम बैठो, मैं काटती हूँ।

‘रहने दो, हाथ दुखने लगेंगे। यह सब काम हमीं लोगों का है। तुम तब तक ऊपर किताब पढ़ो।’—मुँह बिचकाकर गृहिणी ने कहा।

रूपरेखा ने उत्तर-प्रत्युत्तर कुछ न किया। हँसिया ले लिया और अल्प समय में साग-भाजी काटकर रख दी। उसके बाद चाभी लेकर भंडार निकाल आई। दूसरे कामों को भी अपने निपुण हाथों से करने लगी।

उस निपुणता को देखकर गृहिणी स्तब्ध रह गई। जाने उन्हें कैसा अशोभन-सा लगा। शायद ऐसे सुश्रुद्धल और त्रुटिहीन कार्य देखने की उनकी आखें अभ्यस्त न रही हों, या किसी भी कारण से हां, वधू की यह कर्मपटुता उन्हें अच्छी नहीं लगी।

रूपरेखा से गृहिणी ने कहा—पान-वान रहने दो। रंधिया बना लेगी।

परन्तु रूपरेखा ने वहाँ से हटने का नाम न लिया। विनीत स्वर में कहा—मैं ही बना लूँगी।

गृहिणी के इशारे से रधिया पहुँच गई ?

रूपरेखा बिछे हुए पानों पर कत्था डालती हुई बोली—तुम जाकर मछली धो डालो। जब जरूरत पड़ेगी, तुला लूँगी।

चार बज रहे थे। गृहिणी जलपान की व्यवस्था करने जाकर चुप रह गईं। रूपरेखा फल, मिष्ठान्न के प्लेट सजाकर स्टोव पर चाय का पानी गरम कर रही थी।

‘तुमने यह सब क्यों किया दुलहिन। पूछना, न कुछ, कमला के प्लेट में इतने थोड़े से वेदाने क्यों रखे हैं ? जिस काम को जानती नहीं हो उसे करना क्यों ?’

‘दो दिन आप बतला दें अम्मा। वेदाना एक था। सो आधा सविता के लिए रख छोड़ा है। दवा पीने के बाद उन्हें जरूरत पड़ती है। शाम तक हरखू ले आयेगा वेदाना।’

विरक्त चित्त से गृहिणी लौट रही थीं। विपिन की मा पहुँच गई। सत्य-भामा ने उन्हें आदर से बैठाया।

‘बैठो बहन ! बहू, विपिन सब अच्छे हैं ?’

‘अच्छे हैं। बैठूँगी नहीं। काम से आई हूँ। बहू की ओली भरना है। पहला वक्त है। कौन मेरे दो-चार लड़के हैं। जी चाहता है, दो-दस घर न्योता दूँ। सँभालने को एक तुम हो। यदि हिम्मत हो तो न्योता कर दूँ।’

‘कौन-सी बड़ी बात है ? सतिया बीमार पड़ी है। फिर भी जो कुछ बन सकेगा, साथ दूँगी।’

‘तुम पर तो भरोसा था ही। और नमूने के लिए दुलहिन की हीरे की खूड़ी दे देना। बहू के लिए उसी नमूने की बनवाऊँगी। उसे दुलहिन के जेवर पसन्द हैं। नये फैशन के हैं न।’

‘दुलहिन, चूड़ो ला दो।’

परन्तु रूपरेखा ने उठने की चेष्टा मात्र न की। वैसी ही बैठी निविष्ट-चित्त

से चाय बनाने लगी । गृहिणी मुँकलाई—बहरी हो क्या ? कह न रही हूँ—चूड़ी ला दो ।

‘चूड़ी नहीं हैं ।’—अनुद्वेग स्वर से रूपरेखा ने कहा ।

‘नहीं हैं । कहाँ गई ?’

‘मैंने सब जेवर क्वेटा-पीड़ितों के लिए दे दिये ।’

पहले सत्यभामा स्तम्भित हुई, फिर बम-सी पट पड़ी—तुम्हारे बाप की कमाई थी जो दे दी ? किससे पूछकर दिये ?

अपमान से रूपरेखा काँपने लगी । पल भर के लिए उसके मुख पर विवर्णता की छाया पड़ गई । फिर सहमकर कहा—गहने मैं अपने समझती थी । इसलिए किसी से पूछा नहीं ।

‘अच्छी स्वेच्छाचारिणी बहू आई है । या राम, अब मैं क्या करूँ ? यह तो मेरा घर लुटा देगी । ऐसी कुलक्षणी बहू आई है कि पन्द्रह हजार के जेवर लुटा दिये । कमला, देख आकर बहू के गुण ।’

पड़ोसिन विस्मय से रूपरेखा को निहारनें लगीं । दास-दासियों की भीड़-सी लग गई ।

माता के आह्वान से कमलेश आकर चाय के टेबल पर बैठ गया ।

रूपरेखा ने सिर का कपड़ा जरा ठीक कर लिया । तब जलपान का प्लेट टेबल पर रखकर चाय छानने लगी । इस तरह से मानों कहीं कुछ हुआ ही नहीं और निश-दिन इस घर में वह इसी भाँति काम-काज करती रही हो ।

गृहिणी हाय-हाय करने लग गई—बेटा, इसने तो मेरा घर लुटा दिया । घर की बहू यदि ऐसा करे तो घर लुटने में देर ही क्या लगेगी ?

कमलेश निविष्ट-चित्त से कचौरी खाने लगा ।

‘बहरा है क्या कमला ? सुनता है, दुलहिन ने सब जेवर दे डाले ।’

‘सो तो मैं जानता हूँ ।’

‘तू जानता था ?’

‘हाँ, मेरे सामने पृथीश को दिये थे ।’

विस्मित क्रोध से गृहिणी पुत्र का मुँह निहारने लगीं। देर के बाद बोलीं—तूने रोका क्यों नहीं ?

‘मैं क्यों रोकता मा ? मैं गहने थोड़े ही पहनता हूँ। जिसे पहनना है वह जाने। मुझे इससे मतलब ? यदि वह स्वयं पहना नहीं चाहती है, तो मैं क्या कर सकता हूँ ?’

‘चुप रह कमला’—गृहिणी गरजने लगीं—तू जनम भर बच्चा बना रह, इधर घर लुट जाय। गहने तो मेरे हैं, मुझसे पूछे बिना कोई देनेवाला कौन होता है ? और वह पृथीश कैसा है ?

‘पृथीश ? परन्तु किसी के घर उसने डाका थोड़े ही डाला, न चोरी की, सबके सामने लेकर गया। जब उसे दिया गया तभी उसने लिया न ?’

‘हाँ, और जब तू बुद्धू स्वयं वहाँ पर खड़ा था, तो उसका कौन कसूर है ? सो मैं भी समझती हूँ कमला। परन्तु इस बहू को लेकर मैं करूँ क्या ?’

‘अब मा, तुम मुझी से पूछती हो। भला मैं क्या जानूँ कि कौन क्या करेगा ? अपना-अपना मन है और उसका अधिकारी हर एक व्यक्ति है। जो उसे अच्छा लगे सो वह करे और जो तुम्हें ठीक जँचे सो तुम करो। दुनिया में मैं तुम्हें जानता हूँ और किसी से मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है।’

इसके बाद न जाने क्यों सत्यभामा बिलकुल चुप हो गईं। पड़ोसिन राशिकृत विस्मय लेकर घर लौट गईं। दासी-चाकर हट गये। कमलेश धीरे-धीरे चाय पीने लगा। रूपरेखा का मुँह जरा और गम्भीर हुआ।

यद्यपि रूपरेखा का जी चाह रहा था—एक छोटी-सी बात पूछने के लिए—कि यदि तुम्हें दुनिया में केवल माता ही को जानना था, मात्र उन्हीं से सम्बन्ध रखना था, तो मेरे इस आनन्द भरे जीवन को तुमने नष्ट ही क्यों कर दिया ? मैं तो अपने कौमार्य ही में सुखी थी, सन्तुष्ट थी। कौमार्य ही के मानस-मन्दिर में जूही-चमेली चुना करती, कुमकुम की बिन्दी लगाया करती। बस, वही मेरी वृत्ति थी और था मेरे जीवन का पुरस्कार। मेरा कौमार्य तो मेरे ही अंगों में उमड़कर वृत्त, सन्तुष्ट था न ? नौद में पड़ी मस्त मैं सपने में सो रही थी ! फिर उस सपने की डेहरी पर तुमने करताली क्यों बजाई ? मैं तो

तुम्हें जगाने नहीं आई थी, बुलाने नहीं आई थी। फिर क्यों, क्यों तुम राजकुँवर का विजय-मुकुट पहने, चाँद की सुषमा लिये उस कुमारी के द्वार पर धरना देने बैठ गये ? यदि पद-दलित ही करना था, केवल व्यंग ही करना था, तो इस सोते हुए यौवन को जगाकर उन्मादी क्यों बना दिया ? क्यों उसकी शिगा-उपशिराओं में सहस्र दीवट उज्रयार दिये ? क्यों प्रेम का प्रथम कम्पन उसके शरीर में भर दिया ? अब यौवन के इस उन्माद को, पिपासार्त इस नारी को मैं किसके द्वार धरोहर रखूँ ? इस लम्बी जिन्दगी का पाथेय मैं किस अनजान के घर से माँगूँ ? परन्तु नहीं, रूपरेखा ने यह सब उससे कुछ न पूछा। एक छोटा प्रश्न भी न किया। वरन् ऐसे विचार मन में उठने देने के लिए वह स्वयं अपने-आप ही पर क्रुद्ध होने लगी—छिः यह क्या-क्या सोच बैठी मैं ? किस पर यह मान-अभिमान, क्रोध, दुःख करूँ ? उस हृदयहीन व्यक्ति पर ? जो व्यक्ति प्रेम की सत्ता तक को मानने के लिए तैयार नहीं है, उसी की बातों पर वह मान-अभिमान और खेद करने बैठ गई ?

‘मैं किससे कम हूँ ?’—विचार चली रूपरेखा—यदि उनका मुक्त से सम्बन्ध नहीं है तो मैं ही क्यों सम्बन्ध जताने के लिए मरी जाऊँ ? क्या मैं आदमी नहीं हूँ ? मेरा मान-सम्मान नहीं है ? दुनिया में किससे मैं छोटी हूँ ? कैसा दृष्ट और कहाँ का अदृष्ट ? नहीं, मैं कुछ नहीं मानती और न मानूँगी ! मानती हूँ केवल अपने को। यदि संसार में मेरा कोई नहीं है, तो मैं स्वयं अपने आप के लिए हूँ न ? यदि आज मेरा ही जीवन मुक्त से व्यंग, कौतुक करने पर तुला हो तो तुला रहे। मैं भी व्यंग करना जानती हूँ।

व्यथित श्वास हृदय में दबाये सत्यभामा चली गई। आशा और दुलार की बहू की ओर वह देख भी नहीं सक रही थीं। कमला की पत्नी, घर की बहू को वह फेंक भी नहीं सकती थीं, रख भी नहीं सकती थीं। एक स्तम्भित व्यथा ने गृहिणी का मुँह सदा के लिए बन्द कर दिया।

पति-पत्नी एक ही कमरे में गूँगे-से बैठे रहे। यह नीरवता दोनों को खटकने लगी।

‘तुमने चाय नहीं पी रूपरेखा ?’—कमलेश ने पूछा ।

‘छान रही हूँ । आपको एक कप और दूँ ?’

‘दोगी ? अच्छा लाओ । दिन भर में कितने कप पीती हो ?’

‘मैं ? कोई नियम या आदत नहीं है । मिल गये, तो दो-चार कप पी लिये । नहीं तो नहीं ।’

‘ऐसा ? मुझे तो चार वक्त चाहिए । जितना भी देती जाओ, पीता चला जाऊँगा ।’

बेदाना लेकर नौकर पहुँच गया । उसे लेकर रूपरेखा ऊपर चली गई ।

रात में सविता के सिरहाने सत्यभामा बैठी थीं । कमलेश ओडीक्लोन पानी में मिला रहा था । आँख बन्द किये सविता पड़ी थी ।

रकाबी में छिले हुए बेदाना लेकर रूपरेखा ने कमरे में प्रवेश किया ।

आभरण-हीना वधू को देखकर सत्यभामा सिहर उठीं । अपने अनजान में उन्होंने पूछा—चूड़ी, कड़े, हार भी उतारकर दे डाले दुल्हन ?

माता का प्रश्न सुन कमलेश ने मुड़कर देखा और देखता ही रह गया । उस निराभरण सुन्दरी की ओर से वह आँखें फेर न सका ।

काले किनारे की एक साधारण साड़ी, गोरी बाँहों में काँच की काली दो-दो चुड़ियाँ पहने, ललाट पर सिंदूर की छोटी बिन्दी लगाये, कमरे में खड़ी रूपरेखा रूप ही का इन्द्रजाल बुन रही थी । बिजली के उज्ज्वल प्रकाश में उसका गोरा रङ्ग चमक रहा था । लम्बी-पतली भौंहों के नीचे पद्म की पँखुड़ी-सी आँखें मस्ता-सी रही थीं ।

उस मस्ती को देखते-देखते कमलेश का जी एक अपरिचित मोह से भर उठा । वह आँखें फाड़-फाड़कर रूपरेखा को देखने लगा ।

रूपरेखा ने सहज स्वर में उत्तर दिया—नहीं । सोने के जेवर उतारकर आपकी सन्दूक में रख आई हूँ ।

‘चूड़ी तक उतार डालीं ? ऐसा करने को तुमसे किसने कहा था ?’

‘किसी ने नहीं । जेवर मुझे अच्छे नहीं लगते । बेदाने यहाँ पर रखे हैं ।’

सविता तो अभी सो रही हैं।'—इतना कहकर वह चली गई। माता-पुत्र एक दूसरे को देखने लगे।

[२६]

कमलेश के घर से लेता गया पृथीश—राशि-राशि घृणा और आघात। जिस क्षण वह अपने स्नेह-सम्मान की भरी डाली लिये अतीत को सुदूर अण्डमान द्वीप में छोड़ वर्तमान को वरने जा रहा था उसी क्षण उसे अचानक एक बड़ा-सा आघात मिला गया।

जिसे वह निष्ठावती सती समझे हुए था और अपनी भूल पर पछता रहा था, वह वेश्या निकली। नहीं, नहीं, उससे भी अधम निकली वह विश्वास-घातिनी। पृथीश का जी सविता की ओर से जिस परिमाण में घृणा-विवृष्टि से भर उठा था, ठीक उसी परिमाण में सम्मान, श्रद्धा, सहानुभूति की अधि-कारिणी हो रही थी उसकी भाभी रूपरेखा।

और उसकी समस्या का समाधान भी हो गया। इसी कुलटा के लिए कमलेश ऐसी रूप-गुणवती पत्नी की ओर से विमुख है। बेचारी भाभी! और इस बनी हुई लड़की को तो देखो! बालिका-सा सरल बनी रहती है, और है अस्सी वर्ष की सयानी। फिर परबी को क्यों दोष दिया जाय। वह तो वेश्या ही ठहरी। उसका तो पेशा ही यह है।

कमलेश के घर से लौट आकर पृथीश फिर एक सप्ताह तक घर से बाहर न गया। एकत्रित रूपये क्वेटा भेज दिये। और बस, पलंग पर पड़ा-पड़ा यही विचार किया करता। कभी पूरबी, कभी कमलेश, सविता और रूपरेखा को विचारता।

उस दिन पृथीश उठा और कमलेश के घर की ओर चल दिया। किन्तु मध्यपथ से वह लौट पड़ा। यद्यपि रूपरेखा के प्रति सहानुभूति से उसका जी भर रहा था; किन्तु फिर भी वहाँ जाते उसका जी घृणा से संकुचित हो रहा था।

मोटर वापस कर वह पैदल ही चल दिया। अचानक वह पूरबी से भेंट करने के लिए अधीर हो उठा। मन में बार-बार कहने लगा—अवश्य मेरा

उस दिन का बर्ताव भद्रता के विरुद्ध हो गया, और अब उसके लिए क्षमा माँगना जरूरी है।

राजपथ के जन-स्रोत में मिलकर पृथ्वीश चला और चलता ही गया। पीछे छूट गया पूरवी का मकान और पृथ्वीश आगे निकल गया। दूर निकल जाने पर उसकी चेतना लौटी—कहाँ रह गया पूरवी का घर? यह तो जाने कितनी दूर चला आया है वह। पूछने पर उसे पता लगा कि आज शिवजी का बड़ा भारी मेला है और ये सब यात्री हैं।

अपनी भूल पर पश्चात्ताप करता पृथ्वीश लौटा। यद्यपि वह जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाकर चलने लगा, फिर भी शहर पहुँचते-पहुँचते दिन ढल गया। शीघ्र पहुँचने की इच्छा से राज-मार्ग को छोड़ वह सामने की गन्दी गली में घुस पड़ा। गली के दोनों ओर दूटे-फूटे कच्चे मकान थे और नाली की दुर्गन्ध! उसी में किसी प्रकार चलते-चलते पृथ्वीश सहसा विस्मय विमूढ़ हो रहा। वह और आगे बढ़ न सका। सामने के दृश्य ने उसे अचल कर दिया। अन्धा भिलुक अपने दरवाजे पर खड़ा आँसू बहा रहा था और बाईजी श्रेष्ठा पूरवी उसके गले में लिपटी कह रही थी—बाबा, घबराओ मत, मैं तो रोज आया करती हूँ।

हृत्वाक् पृथ्वीश के नेत्र विस्मय से बाहर निकल पड़े। जिज्ञासा, प्रश्न से उसका जी भर आया। किन्तु फिर भी वह पूछ न सका कि छलनामयी, यह कौन-सा छल लेकर नरकलोक में इस अन्धे के पास आई हो?

वेश्या-हृदय के इस अपरिचित अंश से परिचय की बेला में पृथ्वीश का अविश्वासी मन कदाचित् पलभर के लिए मुग्ध हुआ, न हुआ कि दूसरे पल दुर्निवार परिहास से वह कह उठा—यह कौन-सा छल है बाईजी?

अन्धा चौका और उसने भीतर जाकर द्वार रुद्ध कर दिये। पूरवी ने हाथ के चलटी तरफ से आँखें पोंछ लीं। हँसने का व्यर्थ प्रयास करती बोली—वेश्या-हृदय के छल को आप न पहचान पायेंगे पृथ्वी बाबू। व्यर्थ क्यों हैरान हो रहे हैं?

चलते-चलते पृथ्वीश ने कहा—इस भिखारी को शहर में कौन नहीं

पहचानता ? जब गाँजे का दम लगा लेता है, तब हँसाने-हँसाते जनता की नाक में दम कर देता है, परन्तु मुझे आश्चर्य है, इस अन्ध से तुम्हारा...

‘रात हो रही है। चलिए, कार पर आपको घर पहुँचा दूँ। कार सड़क पर खड़ी है।’—अत्यन्त व्यस्तता से पूरवी ने कहा।

पृथीश चुप रह गया। और गली पार कर वह सामने खड़ी हुई कार पर चुपचाप बैठ गया। पूरवी बैठी। रास्ते में दोनों नीरव रहे। उस नीरवता की कदर्यता दोनों में से किसी को न खटकी। वे दोनों अपनी-अपनी भावना में ऐसे मस्त थे कि निकट बैठे रहने पर भी एक दूसरे का अस्तित्व अनुभव न कर सके। कार बाईज की द्वार रुकी।

अपनी गोद में पड़े पृथीश के हाथ को हिलाकर पूरवी ने कहा—घर पहुँच गये हैं, उतरिए।

पृथीश चौक उठा—यह तो तुम्हारा घर है।

‘हाँ, मेरा घर है। मेरी गोद में इस तरह से हाथ रखकर कब तक बैठे रहेंगे ? उतरना तो पड़ेगा ही। यदि आपको कोई मित्र इस स्थिति में देख लेता तो ?’

पूरवी मुँह फेरकर हँसने लगी।

पृथीश ने सिहरकर हाथ खींच लिया। पूरवी की बातें तीक्ष्ण थीं, फिर भी वह कुछ कह-सुन न सका और चुपचाप उसके पीछे-पीछे चल दिया। यद्यपि पृथीश को विस्मय था कि यह स्त्री उसे किस पथ में और किस ओर खींचे लिये जा रही है, फिर भी न तो वह कुछ कह सका और न उसकी आज्ञा को टाल ही सका। वरन् मन्त्र-मुग्ध की भाँति उसके पीछे हो लिया।

उसे साथ लिये पूरवी अपने बैठने के कमरे में पहुँच गई।

‘लो, अब देर मत करो। नहा लो तो बैठना।’ पूरवी ने इस तरह कहा मानों पृथीश उसके घर का ही एक व्यक्ति हो। पूरवी बाहर चली गई। थोड़ी ही देर में फिर लौटी—अभी तक खड़े हो ? मेरे साथ चले आओ।

बाथरूम के द्वार पर नौकर गमछा और वस्त्र लिये खड़ा था।

श्रुत्य के हाथ से वस्त्र लेकर पूरवी ने कहा—तुम जाकर ऊपर के कमरे में स्टोव जला दो ; मैदा, घी, सब रख देना । मैं अभी आई ।

इसके बाद वस्त्र उसने स्नानगृह की अलगनी पर टाँग दिये । काली कोर की कोशे की सफेद साड़ी थी । साड़ी पूरवी की पहनी हुई थी और था एक कीमती तौलिया ।

‘चौकी पर बैठ जाओ ।’

पृथीश गूँगे-सा चौकी पर बैठ गया ।

उसके सिर में जवाकुसुम तेल मलती हुई पूरवी बोली—साबुन, गरम पानी सब यहाँ है । तुम नहाकर मेरे पास चले आना । कमीज मेरे पास नहीं है । यह शाल है, ओढ़ लेना । पूरवी चली गई ।

कोई दस-बारह मिनट में पृथीश स्नान कर पूरवी के निकट जा पहुँचा । पूरवी के सामने तब दो स्टोव जल रहे थे । उसके भीगे बालों से जल-बिन्दु भर रहे थे । एक लाल कोर की महीन साड़ी और रेशम का लाल ब्लाउज पहने साक्षात् अन्नपूर्णा-सी वह भोजन बनाने में व्यस्त थी । उसे देखकर पृथीश प्रभावित हो गया ।

बनाव-शृङ्गार में रमी पूरवी वेश्या का ख्याल उसके मन से बिलकुल ही जाता रहा । और अपने घर की मा-बहन, प्रिया-प्रेयसी-सी इन नारी के सामने कब वह घर ही का एक व्यक्ति बन गया, इसकी खबर उसे न रही ।

‘इतनी जल्दी तुम नहा लीं ? रात के वक्त क्यों नहाई ? बाल न सूखेंगे ।’ पृथीश ने कहा ।

‘नहाती नहीं तो तुम्हारे लिए भोजन कैसे बनाती ?’

‘क्यों ? क्या मैं कोई पंडित-वंडित हूँ ? अपने हाथ से बनाती हो ? रसो-इया नहीं है ?’

‘मुझे इतना वक्त ही कहाँ मिलता है कि बनाऊँ ? रसोइया है ।’

‘तो उसी से बनाने को क्यों न कह दिया ?’

पूरवी चुपचाप काम करने लगी । एक स्टोव में आलू बन रहे थे, दूसरे पर कड़ाही चढ़ी थी । वह पूरी बेल रही थी ।

‘जवाब दो न ।’ पृथीश ने कहा ।

‘सब बातें अभी कैसे कहूँ ? देखते नहीं हो, तरकारी जल रही है ।’—
पूरवी झुंझला उठी ।

‘आलू का साग और पूरी खिलाओगी ? तुम्हीं कहो, इससे मेरा पेट कैसे भरेगा ?’—मुँह बनाकर पृथीश ने कहा ।

पूरवी खिलखिला पड़ी—इससे तुम्हारा पेट नहीं भरेगा सो जानती थी ।
बाजार से ढूँढ़कर नौकर बड़े-बड़े भिङ्गे ले आया है । उनका कटलेट और
पापड़ तले देती हूँ । खड़ी, रसगुल्ले मँगा लिये हैं । बैठ जाओ । यहाँ नहीं,
उस आसन पर बैठो ।

पृथीश के सामने थाली आ गई । गरम कटलेट की सुगन्ध से उसकी
लुधा उमड़ पड़ी । परम तृप्ति-पूर्वक वह भोजन करने लगा ।

‘तुम न खाओगी पूरवी ?’

‘खा लूँगी । तुम तो भोजन करो ।’

‘ऐसा कहो न कि रसोइये ने जो कुछ अच्छी चीजें बनाई हैं, उन्हें अकेली
ही खाओगी ।’

‘आपके योग्य उसमें कुछ न होगा ।—’पूरवी मलिन हँसी ।

पूरवी का भोजन रखकर रसोइया चला गया । सूखी रोटी और भिण्डी
का साग देखकर पृथीश ऐसा चकित हुआ कि देर तक वह बात न कर सका ।

‘खाइए । भोजन ठण्डा हो रहा है ।’

‘यही तुम खाती हो पूरवी ? कमाती तो बहुत हो । मैं क्या जानूँ कि तुम
ऐसी सूम हो । आज मेरे लिए तो तुम्हारा बहुत खर्च हो गया ।’

‘खच मेरा सब हो जाता है । तुम्हारे लिए बनाया क्या जो खर्च होता ?’

‘आज मैंने तुम पर अत्याचार किया पूरवी ।’

‘चिन्ता न करो । दूसरे अत्याचारों-सा इसे भी सह लूँगी ।’

पृथीश लज्जित हो गया ; उसने पूछा—तुम खाती क्यों नहीं हो ?

‘खाती तो हूँ । भूखा कोई रह सकता है ?’

‘अच्छी चीजें क्यों नहीं खाती ? इससे कहीं पेट भरा है ?’

‘जी नहीं चाहता ।’

इस छोटे उत्तर से पृथीश सन्तोष न कर सका—मैं बच्चा नहीं हूँ पूरवी । यह बहाना समझता हूँ ।

‘बहाना नहीं । अच्छी चीजें गले से नहीं उतरतीं । मेरी बहनें रुखा-सूखा खाएँ और मैं अच्छा भोजन कैसे करूँ ?’

‘तुम्हारी बहनें ?’

‘हैं । एक विधवा है, दो बच्चे हैं । एक क्वॉरी है । एक को पति ने त्याग दिया है । ऐसी तीन बहनें हैं ।’

‘वे सब तुम्हारे पास हैं ?’

‘मेरे पास कैसे रह सकती हैं ? पिता के पास हैं ?’

जरा-सी उदास होकर वह कहने लगी—मेरे ही लिए तो उस बेचारी को पति ने छोटे बच्चों के साथ त्याग दिया । उसे पता चल गया कि इसकी बहन वेश्या है । और एक मेरे ही कारण क्वॉरी है । वेश्या की बहन को कौन व्याहने लगा !

बात सुनकर पृथीश को पूरवी पर क्रोध आ गया । इसी चाण्डालिन के कारण इसका परिवार संकट में पड़ा हुआ है । मन की वैसी ही स्थिति में पृथीश ने कहा—हँसती हो पूरवी ? एक तुम्हारे कारण पूरी गृहस्थी मिट्टी में मिल गई और तुम हँसती हो ? क्या वेश्या के हृदय ही नहीं होता ?

दो पूरियाँ थाली में डालकर पूरवी ने कहा—मेरा इसमें क्या अपराध है ?

‘तुम्हारा नहीं तो कसूर किसका है ?’—पृथीश वैसा ही चिल्लाकर बोला—तुम वेश्या बनीं क्यों ?

‘जरा धीरे बोलो । अभी नौकर दौड़े आयेंगे !’

पृथीश चुप हो गया ।

वह निश्चिन्त स्वर से कहने लगी—वेश्यालय में तो मेरा जन्म ही हुआ, फिर मैं देवी कैसे बनती ?

‘वेश्यालय में तुम्हारा जन्म हुआ ? मुझे पागल बनाओगी क्या पूरवी ? इसके क्या माने हैं ?’

‘उस मा को मैंने देखा नहीं, जिसने तीन लड़कियों को जन्म दिया। मेरी मा ने मेरी बहनों को पाला था। पिता के मुँह से सुना है कि मुझे एक भोपड़ी में जन्म देकर मेरी गर्भधारिणी मर गई। मैंने जब होस सँभाला तो अपने को यहीं पाया।’

‘भोपड़े में ? किन्तु घर में क्यों नहीं ?’

‘पृथीश बाबू, सब बातें क्या कही जा सकती हैं ? विशेषकर माता-पिता की ? नहीं न ? तो इस बात को मेरे ही लिए छोड़ दीजिए।’

‘एक बात और कह सकोगी पूरवी ?’—थोड़ी देर मौन रहकर पृथीश बोला।

पृथीश के स्वर में सहानुभूति को पाकर पूरवी के नेत्र छलछला आये। बोली—पूछो।

‘अभी तुम्हारे पिता हैं ?’

‘मेरे अन्धे पिता को तो आज आप देख ही चुके हैं।’

‘अन्धा भिखारी ? सच कहती हो पूरवी, वही तुम्हारा पिता है ?’

‘तुम फिर चिल्लाने लगे ? चलो, हाथ धो लो।’

पृथीश को साथ लिये-लिये पूरवी अपने सोने के कमरे में आई। बोली—पलङ्ग पर लेट रहो।

‘और तुम ?’—अपने अनजान में ही पृथीश ने पूछा।

विस्मित दृष्टि से पूरवी उसे देखने लगी। दो मिनट बाद सहमकर बोली—सेठजी के घर मेरा मुजरा है। दस बज रहे हैं।

वचन-समाप्ति के साथ ही साथ वह चली गई। कोई आध घण्टे में सेण्ट की गन्ध फैलाती हुई वह पृथीश के पास पहुँची। हीरे, मोती और मूल्यवान् वस्त्र पहने इस पूरवी को सामने देखकर पृथीश जल-सा उठा—आखिर तुम वेश्या ही तो ठहरों, पूरवी।

कहे हुए वचन के भीतर अनेक बातें प्रच्छन्न होती हुई भी पूरवी के नेत्र के सामने स्पष्ट हो गईं। व्यथा से उसका मुँह पीला पड़ गया।

जब वह बात कर सकी तो पहले यही कहा—वेश्या तो हूँ ही। फिर

मुझे क्या समझे हुए थे पृथ्वीश बाबू ? अच्छा जाती हूँ, अब सबेरे मुलाकात होगी ।

‘मैं इस कमरे में मिनट भर भी रह नहीं सकता । मेरा श्वास रुँध रहा है ।’

पूरबी लौटकर खड़ी हो गई । दीर्घ निःश्वास भरकर बोली—जाना चाहते हो ? मैंने तुम्हें जबरन तो कभी न रखना चाहा था । अच्छा चलो । रास्ता मैं दिखला देती हूँ । किन्तु पैदल न जाकर मोटर पर चले जाओ तो अच्छा हो ।

पृथ्वीश उसे एक प्रकार से ठेलकर निकल गया । उतरते-उतरते कहता गया—धन्यवाद बाईजी, रास्ते में टैक्सी ले लूँगा ।

मिनट भर पूरबी वैसी ही खड़ी रही । फिर मोटर पर जाकर बैठ गई ।

[२७]

दिन का शेष प्रकाश सन्ध्या की छाया में पड़ा तन्द्रा से झुक-सा रहा था । काग अपने बसेरे की ओर भागे चले जा रहे थे । आकाश के नीचे से कपोत-कपोती सफेद पङ्क्त में वायु को दबाकर नीचे उतरते चले आ रहे थे ।

ऐसे ही एक दिन और रात्रि की सन्धि-वेला में सविता—आम की कोमल बल्लरी-सी, तृतीया के चाँद की मुरझाई छाया-सी, वसन्त के भरे फूल-सी सविता पलङ्ग पर पड़ी थी । उसकी रक्तहीन देह सफेद हो रही थी । शरीर में हाड़ ही हाड़ उभर आये थे । आँखों के नीचे काली लकीरें पड़ गई थीं ।

सविता रोग-शय्या में पड़ी थी, हृदय पर अविराम ध्वनि लिये—कोई नहीं है, कोई नहीं । वह रुग्ण थी, रक्त-हीन थी ; किन्तु इतना सब होने पर भी उस रक्तहीन आकृति की जो एक शान्त श्रो थी वह दर्शक को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी । उस आकर्षण से कमलेश भी बच न पाया ।

सविता के केशों में अँगुलियाँ फिराता उसके मुख पर झुक धीरे से कमलेश पुकारने लगा—सवि, रानी सविता, ऐसी क्यों होती जा रही हो ?

कमलेश के तप्त श्वास से सविता रोमाञ्चित होने लगी ।

‘क्या बात है, कहो न रानी !’—कमलेश ने फिर पूछा ।

इस बार सविता धीरे से बोली—अच्छी तो हूँ ।

‘सो तो मैं भी जानता हूँ । कई दिन से बुखार नहीं है । और कोई

तकलीफ नहीं है। अब है केवल कमजोरी, परन्तु बीमार पड़कर तुम बिल्कुल ही बदल क्यों गई हो ?

‘बदल गई मैं ? नहीं तो ।’

‘नहीं कैसे ? पहले-सी न तो बोलती हो, न हठ करती हो । जिद्द-विद्द कुछ नहीं ।’

‘तो जिद्द-हठ किस पर करूँ ?’

‘किस पर करोगी ? क्या कह रही हो आज सविता ? क्या मैं कोई दूसरा हो गया हूँ ? या मर गया हूँ ?’

सविता सिहरी । जल्दी से कमलेश के मुँह पर हाथ धरकर बोली—
मरने की बात मत कहो ।

फल के रस से भरा प्याला लिये रूपरेखा उसी समय कमरे में प्रवेश कर विमूढ़-सी हो रही । यद्यपि वह जानती थी कि वह बैठा हुआ व्यक्ति बिल्कुल अपना होते हुए भी कोई नहीं है । नहीं, वरन् कोई न हाता तो फिर भी अच्छा था । पराये पर तो मान-अभिमान भी नहीं किया जा सकता है । यह व्यक्ति उसका अपना तो नहीं, और सबसे अपना होकर भी कोई नहीं । पराया भी नहीं तो कौन है ? कदाचित् उसका सबसे बड़ा शत्रु हो । शायद उसका परिहास करनेवाला हो, या तो उसका विद्रोही हो, या और कुछ भी रहा हो ; किन्तु उस व्यक्ति को एक उसी-सी नारी से प्यार करते देखकर उसका मुँह तमतमा आया । यदि यह बात न कही जाय तो झूठ कहना होगा ।

और कमलेश ? वह उस दीप्त शिखा-सी रूपसी स्त्री के सामने जाने कैसा अस्वच्छन्द-सा हो गया । वह उस विद्युत-से रूप को कभी आँखें खोलकर देख नहीं सका । जी जाने कैसा घबराने लगता था । आँखों की पलकें झुलस-सी जाती थीं । दौड़ा-दौड़ा वह इस रुग्ण स्त्री के स्निग्ध रूप की शान्त छाया में झिपकर बैठना चाहता । सविता को देखते-देखते उसे लगता था, मानों उसकी जली हुई आँखों पर अमृत का लेप लग गया हो । सविता के बीमार पड़ जाने से कमलेश को अन्तःपुर में अधिक रहना पड़ता था ।

पुस्तकों पर धूल जम रही थी। अभी दो-तीन दिन से सविता कुछ अच्छी थी। सो कमलेश कल रात लायब्रेरी में बैठ सका था।

कमलेश ने रूपरेखा को देखा और शीघ्रता से आँखें फेर लीं। उठकर निकट के टेबल पर चला गया, और अनमना हो पुस्तक के पन्ने उलटने लगा।

दाँत तले ओठ दबाकर मिनट भर रूपरेखा खड़ी रही। फिर सविता के निकट जाकर बोली—अंगूर का रस है, पी लो।

लज्जा, भय से सविता ने आँखें जो बन्द कर लीं, तो वैसी ही पड़ी रह गई। उत्तर देने व आँखें खोलने की चेष्टा तक न की।

‘सुन रही हो सविता, कब तक मैं खड़ी रहूँ?’—सविता ने आँखें खोलीं। रूपरेखा के मुँह पर दृष्टि पड़ते ही वह सिहर उठी—यह कहाँ की भूखी बाधिन उसे निगले आई है?

‘नहीं पीऊँगी।’—भीत स्वर से सविता ने कहा। अवहेलना से रूपरेखा ने उसे देखा। फिर प्याला टेबल पर रखकर कमलेश से बोली—अंगूर का रस है, पिला देना। मुझे देर हो रही है।

रूपरेखा निकलकर चली गई।

रस लेकर कमलेश सविता के पलंग पर बैठ गया। बोला—पी लो रानी। यह क्या, तुम रो रही हो? क्यों? क्यों?

‘जाओ-जाओ। तुम चले जाओ यहाँ से। जब कि तुम मेरे कोई नहीं हो, तब तुम मेरे पास क्यों आते हो?’

‘क्या कह रही हो सविता?’

‘तुम्हीं ने तो कहा था कि तुम मेरे कोई नहीं हो। कोई नहीं, बिल्कुल कोई नहीं। दीदी के तुम पति हो, और मेरे? नहीं, कोई नहीं। जाओ-जाओ, चले जाओ।’

स्तम्भित कमलेश ने मस्तक नत कर लिया। उसकी समझ में बात नहीं आ रही थी कि क्या से क्या हो गया? और यह भोली लड़की उससे क्या कह रही है, कौन-सी चीज माँग रही है? थोड़ी देर बाद कमलेश ने कहा—‘आज मैं कुछ-कुछ समझ रहा हूँ। किन्तु सवि रानी, जिस वस्तु पर मैं

विश्वास नहीं करता उसे मैं तुमको कहाँ से दूँ ? मैं दुनिया में किसी का अस्तित्व न माननेवाला आदमी हूँ। फिर प्रेम का अस्तित्व मैं कैसे मानूँ सविता ? और सविता, तुमको ? नहीं, अपनी इस उत्तेजना में, उच्छ्वसितता में, लालसा में तुम-सी भोली लड़की की आहुती नहीं चढ़ा सकता। यदि मैं प्रेम का अस्तित्व मानता होता तो आज मैं क्या करता सो नहीं कह सकता हूँ। रोती हो सविता ? किन्तु मैं क्या करूँ ? माँग बैठीं तुम प्रेम। उसे मैं लाऊँ कहाँ से ? नहीं मानतीं, तो मेरे हृदय को चीर-फाड़कर देख लो। वहाँ पर प्रेम का एक छोटा स्फुलिङ्ग भी न पाओगी। जुगनू का एक दीवट भी न पाओगी। डूबते हुए तारों-सा म्लान प्रेम का हलका प्रकाश भी न पाओगी। ऐसे एक व्यक्ति से माँग बैठीं तुम प्रेम ! जीवन की प्रभात-वेला में यह कैसा परिहास तुम कर बैठीं रानी ?

‘नहीं-नहीं ; कुछ नहीं। मैं तुमसे कुछ नहीं माँगती।’

‘सविता...’

‘चुप-चुप। कुछ नहीं माँगती। दुनिया में मैं अकेली हूँ। मेरा कहीं पर कोई नहीं है। जाओ तुम, मेरी आँखों के सामने से हट जाओ।’

कमलेश अस्थिर गति से कमरे में टहलने लगा। देर तक टहलता रहा। इसके बाद सविता के निकट बैठ गया।

‘यदि किसी दिन मैं प्रेम के अस्तित्व पर विश्वास कर सका, तो सबसे पहले तुम्हारी माँग पूरी करूँगा। सुनती हो सविता।’—स्नेह-तरल कण्ठ से कमलेश ने कहा।

सविता ने सहमी हुई आँखें उठाईं। उन नेत्रों में तब आँसू का शेष कण नहीं था। वह बोली—माँग कैसी ? मैंने तो कभी तुमसे कुछ माँगा नहीं। न कुछ माँगती हूँ, न कभी माँगूँगी ही। क्यों तुम हैरान हो रहे हो ?

‘नहीं माँगती ? तो शायद वह मेरा भ्रम रहा हो। सच कहती हो सविता ?’—द्विधा-जड़ित स्वर में कमलेश बोला।

‘भूठ क्यों कहूँ ? निश्चिन्त रहो। मैं तुमसे कुछ भी नहीं माँगती।’

उत्तर सुनकर कमलेश का जी हलका तो अवश्य हो गया ; किन्तु फिर

भी न जाने क्यों वह वैसा प्रसन्न न हो सका जैसा कि उसे होना चाहिए था । कमलेश विचारने लगा—मेरी अपनी-सी सविता नहीं माँगती, मुझसे कुछ भी नहीं माँगती । थोड़ा-सा प्रेम, जरा-सी चाह, छोटा-सा सोहाग ? नहीं । भोली सविता मुझसे कुछ नहीं माँगती । चाहे किसी दूसरे से माँगे ; किन्तु मुझसे वह कुछ नहीं माँगती । ऐसी बातों को सोच-सोचकर कमलेश का जी उदास हो गया ।

सविता उसे देख रही थी । बोली—अब क्यों उदास हो रहे हो ? सुन लिया न ? मैं तुमसे कुछ नहीं माँगती । यह तुम्हारा भ्रम था ।

आमाद से देखता हुआ कमलेश कह उठा—भ्रम ही तो रहा सविता । कैसा भयानक भ्रम था ? वहा तो विचार रहा हूँ । बातों में ऐसा लगा कि रस खा ही रह गया । लो ।

सविता ने रस पी लिया ।

कमलेश उठकर खड़ा हो गया—जरा पढ़ूँ चलकर । कहो, रोना तो नहीं आ रहा है ?

इस प्रश्न में न जाने क्या था कि सविता के नेत्र फिर छलछलता आये ।

‘रोइ कब थी ?’—वह जबरदस्ती हँसो ।

‘रोइ नहीं थी ?’

‘नहीं ।’

‘भूठी । जाने तुम बात-बात में कैसे रो पड़ती हो । मुझे तो कभी रोना ही नहीं आता ।’

‘कभी नहीं रोये तुम ?’

‘कभी नहीं । मुझे विस्मय है सविता, कि आदमी रोता क्यों और कैसे है ?’

विवृष्टि से सविता का जी भर आया, उसी परिमाण में वह विस्मित भी हुई—कैसा हृदय-हीन व्यक्ति है यह ?

सविता चुप ही रही और कमलेश सीटी बजाता निकल गया ।

अब सविता सम्पूर्ण रूप से स्वस्थ थी । लम्बी बीमारी भुगत चुकने के बाद वह अधिक दुर्बल हो गई थी । लड़की के लिए सत्यभामा अधिक व्यस्त

हुई । वायुपरिवर्तन की तैयारियाँ होने लगीं । पुरी में समुद्र के किनारे मकान खोजा जाने लगा ।

सत्यभामा ने कमलेश से कहा—तुम्हारे जाने से यहाँ काम कैसे चलेगा बेटा ? दुलहिन और तुम यहीं पर रहो । मैं सुरसती को लेकर जाऊँगी । दो महीने तक तुम्हारा वहाँ रहना नहीं बन सकेगा ।

‘तुम दोनों को मैं अकंले कैसे भेजूँ मा ?’

‘अकंले नहीं, पीताम्बर साथ जा रहा है ।’

वृद्ध पीताम्बर गुमाश्ता था । वह वृद्ध घर ही का एक व्यक्ति था ।

‘अच्छा, उन्हें लती जाओ । आठवें दिन मैं भी पहुँचा करूँगा ।’

इसके बाद बाहर जाने की तैयारी जोर-शोर से होने लगी ।

[२८]

थोड़े ही दिनों में रूपरेखा ने अपने निपुण हाथों से गृहस्थी का भार इस तरह सँभाला कि देखकर घर के दास-दासां से लगाकर वृद्ध गृहिणी तक को चकित रह जाना पड़ा ।

गृहस्थी का कार्य-भार उसने अपने हाथ में ले लिया था, कुछ सत्यभामा के जान में कुछ अनजान में । सत्यभामा के हाथ का काम वह छीनकर करने लग जाती । कभी गृहिणी बक-भककर रह जातीं । कभी भूँभूँलाकर उसे हटा देतीं । कहतीं—घबराती क्यों हो ? जन्म भर मैं थोड़े ही जीने की । मर जाऊँ तब करना । मालकिन बनने के लिए अभी से क्यों मर रही हो ? गृहस्थी तुम्हारी हैं, परन्तु मेरे जीते जी लड़कें का काम कोई दूसरी नहीं करने पायेगी ।

तब रूपरेखा मुसकराकर कहती—उनका काम तुम करो ; किन्तु बाकी मुझे क्यों नहीं करने देती ?

सत्यभामा चिढ़ती, कहतीं—तुझे हिसाब देने बैटूँ क्या ?

इतना सुनकर वधू चुप रह जाती और काम-काज करके ही दम लेती ।

परन्तु आश्चर्य तो यह है कि ऐसी कार्य-निपुण सुन्दरी वधू पाकर भी गृहिणी सन्तुष्ट न हो सकी । निर्भरशील, पराये की लड़की सतिया जैसी

अपनी लगती थी, वधू वैसी नहीं लग सकी। उसका सुश्रुद्धल, एक मशीन की भाँति गृहस्थी का नियमित काम और उसकी बहुदर्शी अभिज्ञता गृहिणी के बड़े मन को असहनीय-सी होने लगी। उनके गृहिणीत्व पर एक कलंक-सा लगने लगा।

प्रातः से सन्ध्या तक अब वैसा कोलाहल, बक-भक न मचा रहता। नौकरों को काम करने के लिए पचास बार कहना न पड़ता। बाजार के हिसाब को लेकर नौकर से घण्टों बकवाद न करनी पड़ती। दूध पर मलाई न पड़ने के लिए रसोइयों को कहना-सुनना भी न पड़ता। बाजार की सड़ी-गली मिठाई पर सन्तोष न करना पड़ता। घर में सब चीजें ताजी बनती। और महीने भर का सामान सप्ताह भर में शेष न होकर महीने से भी ज्यादा चलता। चहुँओर एक सुदृढ़ नियम, सुचारु कार्य की रीति और एक तत्परता का राज्य था।

गृहिणी बाहर जाने की तैयारी करती और अपने स्थान पर इस तरुणी गृहिणी को देख-देखकर जलती रहतीं। कारण-अकारण वधू को दो-चार कठोर शब्द नित्य प्रति सुना देतीं। उनका अपना साम्राज्य छिना जा रहा था और वह बम के गोले की तरह फटी पड़ रही थीं। केवल ठाकुरजी का काम उनके और उनकी सरस्वती के हाथ में था। क्योंकि वहाँ अनाचारिणी वधू का प्रवेश निषिद्ध था।

कमलेश के घर प्रौढ़ द्विप्रहर थम-थमा रहा था। दास-दासी घर जा चुके थे। गृहिणी भागकरियाँ ले रही थीं। अंड्रे पर काकातुआ ऊँच रहा था। घर की निरलस वधू रूपरेखा कमलेश का कमरा झाड़ने-पोंछने में व्यस्त थी। और सविता दालान में बैठी उदास, अशहाय दृष्टि से उस ओर निहार रही थी। एक दिन जो कुछ उसका अपना था, जहाँ की वह एकच्छत्र रानी थी; और जिस रानीत्व के अधिकार को उसने केवल अपने ही लिए जाना था, उस सब कुछ का अन्त हो चुका था। अब शेष बच गया था केवल दीर्घ निःश्वास, अन्तर्भेदी हाहाकार, मात्र आकुल कन्दन।

देख रही थी सविता। अनिच्छा से भी उसे देखना पड़ रहा था। जिस

कमरे को देव-मन्दिर के समान शत-सहस्र बार झाड़-पोंछकर भी उसे तृप्ति न मिलती थी और न कभी मिलने की सम्भावना थी, जिस कमरे में उसके मान-अभिमान, हँसी-कौतुक की सहस्र स्मृतियाँ जड़ित थीं, उसी कमरे को, अपने उसी देव-मन्दिर को एक दूसरी सेविका, नहीं-नहीं, एक रानी, हाँ, एक रानी किस स्वेच्छाचार से, किस परिपाटी से सजा रही है ! और यह सब उसे देखना पड़ रहा था । जहाँ उसके अनाड़ी हाथों के बने कुशन-तकिये के गिलाफ थे, वहाँ आज कारुकार्ययुक्त, सुदृश्य तकिये सो रहे थे । फूलदानों से लेकर कमरे में लगे हुए चित्रों तक में गहरा परिवर्तन था ।

सविता को लगा, उसके छोटे से छोटें चिह्न तक का गला घोट-घोटकर, वह सूर्य-किरण-सी दीप्त रमणी, निश्चिह्न करने के लिए तुली खड़ी है । उन चिह्नों को वह निश्चिह्न करके ही दम लेगी । और तब वह शत-सहस्र स्मृतियाँ हाहाकार करती हुई धून के कण में मिल जायेंगी और कमरे का युवराज उन स्मृतियों को पैरों तले रौंदता हुआ नूतन में मस्त हो रहेगा । उन सब की खबर तक उसे न रहेगी । द्वार पर खड़ी भिखारिन की ओर कोई लौटकर भी न देखेगा ।

हाथों से सविता ने अपनी आँखें बन्द कर लीं । नहीं, वह कुछ भी नहीं देखेगी, न कुछ सुनेगी । अकेली है यह, अकेली ही रहेगी ।

चिरपरिचित पदशब्द सुनकर सविता ने आँखें खोलीं । कमलेश अपने कमरे में प्रवेश कर रहा था । उसने शायद ही सविता को देखा हो ; परन्तु सविता की आँखें फटी रह गईं । वह कमरे के भीतर से अपनी दृष्टि हटा न सकी ।

‘बस, शुरू कर दिया न काम ?’—कमलेश हँसकर रूपरेखा से कहने लगा ।

रूपरेखा ने पति को देखा । अपनी कमर में लपेटे हुए वस्त्र को खोलकर उसने सिर थोड़ा-सा ढाँक लिया, तब हाथ का काम करती हुई उत्तर में बोली—‘यों ही जरा साफ कर रही हूँ ।’

‘सो तो मैं भी देख रहा हूँ । दोपहर में जरा आराम कर लिया करो । मैं तो देखता हूँ दिन भर तुम काम करती रहती हो । थकती नहीं हो रूपरेखा ?’

‘दोपहर में मेरी सोने की आदत नहीं है। काम के बिना मैं रह नहीं सकती। पहले कालेज में जब पढ़ती थी, तब दिन मजे में कट जाता था। अब कालेज की पढ़ाई नहीं है। दिन मुश्किल से कटता है।

‘किताबें क्यों नहीं पढ़ती?’

‘मैंने अपने पास की सभी किताबें पढ़ डालीं।’

‘तो लायब्रेरी में किताबों की क्या कमी है? देखी तो हैं न तुमने? फिर पढ़ती क्यों नहीं हो?’

‘पढ़ूँगी।’—कहकर रूपरेखा अपना काम करने लगी।

उधर बाहर बैठी सविता के नेत्र में अंधेरा छा गया। कोई नहीं, कोई नहीं। मेरे आगे-पीछे, आस-पास कोई नहीं हैं। उसका जी जाने कैसा कर उठा।

किन्तु पल-पल में उसके विचार में परिवर्तन होने लगा—क्या सचमुच कोई नहीं? तो वह जीती कैसे है? और किसके लिए जी रही है? इतनी बड़ी दुनिया में क्या वह सचमुच अकेली ही है? ऐसा कैसे हो सकता है? उसका साथी है उसका जीवन! जीवन साथी है? वह विचारने लगी—तो आज मेरा ही जीवन मेरे साथ यह किस कौतुक का चौपड़ खेल रहा है? अब मैं गोटी को कैसे संभालूँ?

सविता की दृष्टि अपने आप कमरे की ओर उठ गई और कमलेश के मुँह की हँसी पर विकल वेदना से लोटने लगी। सविता उठी। काँपती हुई बाहर की ओर भागी; परन्तु गति उसकी ठाकुरजी के कमरे में जाकर रुक गई। उसके बाद शान्त मुख से वह सन्ध्या-आरती के लिए दीप सजाने बैठ गई।

जाते-जाते कमलेश लौटा। बोला—देखो तो, कैसा भूलता हूँ? उत्तर की प्रतीक्षा में कालेज का चपरासी खड़ा है और मैं मजे से बातें कर रहा हूँ।

‘क्या मेरे आवेदन-पत्र का उत्तर आ गया?’—रूपरेखा के स्वर में उत्सुकता थी।

‘आवेदन-पत्र कैसा?’—एक बन्द लिफाफा रूपरेखा के हाथ में रखकर विस्मय से कमलेश ने पूछा।

लिफाफा खोलते-खोलते रूपरेखा ने उत्तर दिया—प्रोफेसर की जगह खाली थी, उसके लिए मैंने आवेदन-पत्र भेजा था ।

पत्र पढ़कर रूपरेखा आह्लादित हुई, बोली—मुझे जगह मिल गई है ।

‘तो तुम नौकरी करोगी ? परन्तु माताजी से पूछ लिया था ? कदाचित् यह बात उन्हें पसन्द न हो ।’

रूपरेखा का मन एकदम दुनिवार हो गया—उन्हें वधू की स्वाधीन जीविका पसन्द नहीं है ? परन्तु उसके नारीत्व को व्यर्थ कर देना पसन्द है ? एक शक्तिशालिनी नारी से दासी-वृत्ति कराना, एक प्रेममयी नारी को प्रेम से वञ्चित कर देना, और भावी माता को वन्ध्या बनाकर रखना उन्हें पसन्द है !

रूपरेखा का अत्याचार-पीड़ित मन पूरे संसार से रूठ बैठा । वह बोली—उनकी पसन्द के लिए तो एक नारी का जीवन व्यर्थ हो ही चुका है ; परन्तु उस व्यर्थ जीवन को अब अधिक नष्ट नहीं कर सकती ।

अचम्भे में आ कमलेश उसका मुँह निहारने लगा—किस बात का दुःख है तुम्हें रूपरेखा ? मा ने तुम्हारा जीवन व्यर्थ कर दिया ? किन्तु किस तरह ? कहो, मैं जानना चाहता हूँ ।

किस बात का अभाव है ? आकुल विस्मय से रूपरेखा स्तब्ध रह गई । यह पुरुष उससे आज कौन-सा सत्य जानना चाहता है ? और सब कुछ जानकर भी उससे यह कैसा भयानक परिहास कर रहा है ?

आज सभी कुछ शेष कर देने के लिए रूपरेखा अकड़कर खड़ी हो गई ; किन्तु वह वैसा कुछ न कर सकी । उलटे अपने आप पर क्रोधित होने लगी । किसके सामने आज वह अपनी मर्यादा को लुटा रही है ? कह क्या गई और कहने क्या जा रही है ? किसके सामने वह भीख की भोली पसार रही है ? उसी एक व्यक्ति के सामने जो प्रेम की सत्ता तक को नहीं मानता । उसी अविश्वासी के निकट वह कौन-सी गुप्त कथा खोल बैठी ? रूपरेखा अपने पर झुँकलाने लगी । उसे विस्मय था कि उसके हृदय में ऐसी दुर्बलता कैसे

आ सकी। उसने सहमी आँखें उठाई—नहीं, मेरे जीवन में कोई भी अभाव नहीं है।

‘सो तो मैं जानता हूँ।’

‘हाँ, और यदि माताजी नहीं चाहतीं, तो इस काम को मैं नहीं करूँगी।’

इसके बाद और कुछ पूछने की जरूरत कमलेश ने न समझी। गुनगुनाता हुआ वह बाहर निकल गया।

[२९]

कामकाज से निवटकर डाइङ्ग-रूम में बैठी रूपरेखा हारमोनियम पर गा रही थी। उसके मँजे हुए गले से गान सुर-ताल के साथ निकल रहा था। उस स्वर को सुनकर आम की डाल पर बैठी कोकिला भी एक बार अपनी झुंझार को भूल गई। फिर कमलेश और पृथ्वीश तो मनुष्य ही ठहरे।

जाने कब से वे दोनों रूपरेखा के पीछे बैठे सुन रहे थे। और कदाचित् यों ही सुनते चले जाते, यदि रूपरेखा उन्हें देख न लेती।

‘दिन-दोपहरी में यह चोरी भाई साहब?’—मधुरहास्य से रूपरेखा ने कहा।

‘जब माँगने-जाँचने से काम नहीं चलता तब चोरी करनी ही पड़ जाती है।’—कमलेश बोला।

कमलेश जी खोलकर हँसने लग गया। लज्जा से रूपरेखा का मुँह आरक्त हो गया और सरल हास-परिहास के भीतर पृथ्वीश का संकोच बह गया। उसका जी एकदम हलका हो गया। दीर्घ दिनों के बाद इस घर में आते समय रास्ते भर वह सोचता चला आया कि इस न आने का कारण वह भाभी से क्या बतलायेगा? उनके पूछने पर क्या वह उस दिन की सभी बातें कह देगा? जिसे देखकर उसका जी जल गया था और साथ ही साथ भाभी के दुर्भाग्य के लिए दुःख-व्यथा से भर उठा था, उन सब बातों को क्या वह कह दे? और उस दारुण वार्ता से भाभी का जी जलाना क्या उचित होगा? नहीं; यह सब वह उनसे नहीं कह सकेगा। वह जानता है, उसकी भाभी एक प्रेमहीन के हाथ में पड़कर कितनी दुःखी हैं। उस पर

वह उन्हें ऐसी वार्ता नहीं कह सकेगा। कह न सकेगा कि हृदयहीन के साथ-साथ तुम्हारा पति चरित्रहीन भी है। तब वह कहे क्या? तो झूठ-सच मिलाकर अपने न आने की लम्बी कहानी रचता हुआ वह यहाँ पर पहुँचा; परन्तु हँसी के एक झोंकें ने जब उसे उस कठोर दाबित्व से बचा दिया, तब वह एक शिशु-सा खुशी से मचल पड़ा।

‘एक और सुनाओ भाभी।’

‘आज माफ करो पृथ्वीश बाबू!’—रूपरेखा ने कहा।

‘यदि चोरी-डकैती न करवाना चाहती हो, तो एक और सुना दो रेखा।’
—कहते हुए कमलेश ने बाजा लाकर उसके सामने रख दिया।

परन्तु इस बार रूपरेखा का गीत वैसा जम न सका।

बाजा बन्दकर रूपरेखा ने पूछा—‘क्वेटा से कब लौटे भाई साहब?’

‘क्वेटा? किन्तु वहाँ जा ही कब पाया था भाभी?’—जरा इतस्ततः कर पृथ्वीश ने उत्तर दिया।

‘नहीं गये? तो इतने दिन क्या कर रहे थे?’

‘कुछ दिन बीमार पड़ा रहा। फिर कई भूँटों में फँस गया।’—पृथ्वीश झूठ बोल गया और बिलकुल झूठ।

‘पूरवी बाईजी के घर जो एक्सिडेंट हो गया था उसके बाद क्या फिर बीमार पड़ गये थे पृथ्वीश?’—कमलेश ने पूछा।

‘पूरवी? यह तो एक प्रसिद्ध वेश्या है न?’—रूपरेखा की आवाज दब-सी रही थी।

पृथ्वीश पसीने से तर हो गया। उसे लगा कि उठकर कमलेश को कमरे से धक्का मार-मारकर दूर कर दे।

कमलेश अपनी ही धुन में कहता गया—‘पूरवी प्रसिद्ध गायिका है। बहुत अच्छी गाती है। तुमने कभी उसके गीत सुने हैं, रूपरेखा?’

‘हाँ। कई बार। सेठजी के घर पार्टी में वह आई थी। उनके लड़के का मुण्डन हुआ था। फिर बेटी के विवाह के वक्त भी उसका मुजरा करवाया था।’

जल्दी-जल्दी पृथ्वीश कहने लगा—‘उस दिन की बात कुछ न पूछो भाभी।’

मोटर एक्सीडेंट हो गया ठीक बाईजी के घर के सामने। जब होश में आया तो अपने को उसके घर में पाया। कमलेश भी मौके से पहुँच गया। उसी वक्त हम दोनों चले आये। यही तो कह रहा हूँ भाभी, मनुष्य विचारता है कुछ और हो जाता है कुछ। कहाँ मैं सोचे हुए था कि क्वेटा पहुँचकर इस बार पूरे जोर-शोर से काम करूँगा; परन्तु हुआ उसका उलटा ही। पलङ्ग पर पड़े-पड़े दिन बीते। ईश्वर को तो मेरा वहाँ जाना मंजूर था नहीं, फिर जाता कैसे? अदृष्ट के निकट मनुष्य-शक्ति कैसी तुच्छ हो जाती है, जब इस बात को सोचता हूँ तब स्तब्ध रह जाना पड़ता है, भाभी।

परन्तु रूपरेखा के मुँह से इस पर वाद-प्रतिवाद व समर्थन के लिए जब एक भी शब्द न निकला तो पृथ्वी ने कहा—पृथ्वी में है केवल एक दैव-शक्ति और अदृष्ट का फल। हम मनुष्य तो अदृष्ट के दास हैं, भाभी।

कमलेश जोर से हँसा—जैसे तुम वैसी तुम्हारी भाभी। अदृष्ट है किस जानवर का नाम? यदि उसे देख सकूँ तब उस पर विश्वास कर सकता हूँ। क्यों रेखा, तुम चुप क्यों हो?

रेखा धीरे से बोली—आपकी बातें हम पृथ्वी के प्राणी नहीं समझ सकते। और इसलिए ऐसी एक बात का उत्तर देना हमारे लिए सम्भव भी नहीं है?

‘ऐसा!’—कमलेश बोला।

‘हाँ, आप अपनी सत्ता तक नहीं मानते, फिर दूसरी वस्तु पर विश्वास कर ही कैसे सकते हैं?’

इस ज्वलन्त व्यंग को सुनकर कमलेश स्तब्ध रह गया। तो यह स्त्री इस घर में केवल मुझसे विरुद्धाचरण करने के लिए आई है? प्रतिपल मुझे परिहास से बिद्ध करने के लिए? कमलेश के मन में विचार उठा और साथ ही इस नारी के आचरण से उसका हलका मन भारी हो गया। उसने एक दम चुप्पी साध ली।

‘ठीक है भाभी। ठीक-ठीक। हम पृथ्वी के प्राणी हैं। हमें पृथ्वी का होकर रहना है। दैवशक्ति, अदृष्ट हमें सब कुछ मानना है। कहो न भाभी, चुप क्यों हो?’—आह्लाद में पृथ्वी ने कहा।

रूपरेखा गर्वित हँसी—अदृष्टवाद तो कापुरुषों की एक दलील है, पृथीश बाबू।

‘कापुरुष की दलील ?’

‘हाँ। अपनी बात मैं कह सकती हूँ। अदृष्ट की दुहाई देते मेरी आत्मा संकुचित हो जाती है। मैं जानती हूँ अपने आपको। मेरी अपनी जो एक सत्ता है, जिसे मैं मनुष्यमात्र की सत्ता कह सकती हूँ, उसकी अवमानना मैं किसी भी दिन नहीं कर सकती। तुच्छ है वह अदृष्ट उस सत्ता के निकट। मनुष्य शक्तिशाली है, भीरु नहीं। यदि वह अदृष्ट को मानता है तो कापुरुष के सिवा अपने को और क्या कह सकता है ?’

‘भाभी, भाभी ! तुम कहती क्या हो ? तुम ईश्वर को भी नहीं मानती ?’

‘ईश्वर और अदृष्ट एक नहीं हैं, भाई साहब। यदि मुझे ईश्वर ने बनाया है, तो मेरे अदृष्ट को भी उसी ने बनाया। फिर पृथीश बाबू, मुझसे मेरे भाग्य की शक्ति बड़ी कैसे हो गई ? और यदि वह मुझसे अधिक शक्तिमान होकर रहना चाहता है, तो मैं भी हूँ न ? मैं मनुष्य हूँ और वह है मनुष्य का अदृष्ट। तो मनुष्य ऐसे एक अदृष्ट के अधीन कैसे हो सकता ? अदृष्ट मनुष्य के अधीन है, मनुष्य उसके नहीं। मैं अपने को उससे छोटा नहीं समझ सकती हूँ और न उससे डरती हूँ।’

‘भ्रम है भाभी ! ऐसा मनुष्य कौन है, जो अदृष्ट से डरता न हो ?’

‘मैं ही तो एक हूँ। मैं दुनिया से नहीं डरती।’

विमूढ़-विस्मय से पृथीश कह उठा—दुनिया से नहीं डरती ? नई बात है।

‘दुनिया में जाने कितनी ही नई बातें रहती हैं, भाई साहब।’

‘और अपने मन से भी नहीं डरती भाभी ?’

‘किसी से नहीं डरती।’

पृथीश चुप हो गया।

कमलेश ने उस वद्विग्न स्पर्द्धा, अहंकार, गर्व की प्रतिमूर्ति स्त्री की ओर आँखें खोलकर देखा। उसे लगा, उस नारी के शरीर से अग्नि की ज्वालाएँ निकल रही हैं, जिस ज्वाला में दृष्टि भस्मीभूति हो जाती है। ग्रीष्म के प्रखर

सूर्य की ज्वाला-सी वह अपने आपमें तुष्ट-परिपूर्ण हो सकती है, परन्तु दूमरों को तो वह जलाकर दम लेती है। शीघ्रता से कमलेश ने दृष्टि फेर ली।

‘मेरी भाभी, समझ गया मैं।’—पृथ्वीश गम्भीर आवेग से कहने लगा—‘तुम्हारा जन्म घर के कोने में बन्द रहने के लिए नहीं हुआ है। मरु-भूमि जैसे कंटा को आज तुम-सी नारी की जरूरत पड़ गई है।’

‘मेरी?’—वह मुसकरा रही थी।

‘तुम्हारी ही। एक कंटा ही में तुम्हारी शक्ति आबद्ध रहकर तुष्ट और पुष्ट नहीं हो सकती मेरी भाभी! दुनिया को तुम्हारी जरूरत है। और तुम्हें मेरे साथ कंटा चलना पड़ेगा।’

‘मैं तैयार हूँ भाई साहब।’ अनायास रूपरेखा बोल उठी।

‘सो मैं जानता था। तो कल ही चलो। तैयार रहना। अच्छा नमस्कार।’

पृथ्वीश को जाते देख कमला ने भारी स्वर से पुकारा—‘दो मिनट ठहरो पृथ्वीश। माताजी से इनके जाने के बारे में पूछ लिया है न? उनका मत तो तुम जानते ही हो। शायद वह इनका वहाँ जाना पसन्द न करें।’

इतना कह कर कमलेश उठकर चला गया। पृथ्वीश लौटकर बैठ गया। अपनी भूल समझकर जब वह कुछ कहने के लिए हुआ तब सहज भाव से रूपरेखा ने कहा—‘मैं भूल गई थी भाई साहब। माताजी को ये बातें पसन्द नहीं हैं। यह तो मुझे कभी नहीं रोकते, किन्तु मा का कान तो हम दोनों ही को मानना है।’

इस सहन-शक्ति को देखकर पृथ्वीश अवाक् रह गया। वह जानता था कि उसकी भाभी का जीवन आँसू के किस अतल में डूबा हुआ है। विवाहित जीवन में उसे कौन-सी लांछना मिली है। यह सब पृथ्वीश जानता था। परन्तु उसी भाभी की सहन-शक्ति को देखकर वह विस्मित नहीं हो सका, वरन् गहरी व्यथा से उसका जी रोने लगा। चुपचाप निकलकर वह चला गया।

और रूपरेखा? उसने अपने इस बन्दी-जीवन की ओर पल-भर के लिए ताका, फिर शान्त भाव से भीतर चली गई।

[३०]

सामने की दालान में बक्स, ट्रंकें, छोटी-बड़ी पोटलियाँ, बिस्तर बँध रहे थे। बाहर लारी और मोटर खड़ी थी।

एकान्त में सत्यभामा ने कमलेश से कहा—बेटा तुम तो आठवें दिन वहाँ आया ही करोगे; किन्तु मेरा मन यहीं पड़ा रहेगा। शक्का लगी हुई है दुल्हिन के लिए। अपने सामने किसी को समझती ही नहीं। देखना कमला, हमारी कुल-मर्यादा पर कहीं दाग न लगा बैठे। जहाँ जो आया, चन देती है। बाहर के कमरे में बैठकर गाती है। अकेली बैठी पृथ्वी से बातें करती है। बहू-बेटियों को ऐसा नहीं सोहता। जेवर लुटा दिये। अब काँच की चूड़ी पहने घूमती है। बड़ी जिद्दिन है। उसे देखते रहना।

‘मैं क्या कर सकता हूँ मा ? किसी की स्वाधीन इच्छा को मैं रोक कैसे सकता हूँ ?’

‘यह सब मैं नहीं जानती। तेरी बातें सुनने-सुनते मेरे कान पक गये। मैं घर की मालकिन हूँ। मेरी अनुमति के बिना इस घर का कोई कुछ नहीं कर सकता है। तुमको मैं घर सौंपे जा रही हूँ। बस घर की इज्जत तुम पर है। जब मैं लौटूँ तो मेरा घर मुझे समझा देना।’

कमलेश ने माता की आज्ञा शिरोधार्य कर ली। सामान लारी पर लद गया। प्रणता बधू के सिर पर हाथ रखकर गृहिणी ने आशीर्वाद दिया—पति-सोहागिन हां बेटी।

पल भर के लिए रूपरेखा का जी आँसू से भर आया। दूसरे पल वह सहमकर हट गई।

सविता के सामने कमलेश आकर खड़ा हो गया।

‘रोज पत्र लिखना सविता रानी।’ कमलेश ने कहा। यह जाना थोड़े दिन के लिए ही था। और सप्ताह में वहाँ एक बार कमलेश का जाना भी निश्चित था, फिर भी न जाने क्यों कमलेश का जी उदास हो रहा था।

आँसू छिपाने के लिए सविता ने मुँह फेर लिया। कमलेश जल्दी-जल्दी हट गया।

मोटर पर चढ़ते-चढ़ते सविता मुड़-मुड़कर पीछे की ओर देखने लगी ।

उसका जी ? किन्तु वह अपनी सारी सम्पत्ति तो उस मकान में छोड़े जा रही थी । नूतन रानी को अपना राज्य सौंपे जा रही थी । फिर उसके मन की स्थिति की बात दूसरा कोई कैसे कह सकता है ?

सविता, तपस्या के गम्भीर रूप-सी, कदम्ब-वन की छाया-सी, भैरव राग की अनुभूति-सी सविता आशा-पूर्ण, अधीर नेत्रों से बार-बार पीछे देखने लगी ; एक बार, केवल एक बार अपने राजकुँवर को देखने के लिए । और निराश व्यथा से उसकी दृष्टि वहीं पर मूर्च्छाहित-सी हो रही । नहीं, उसका प्रीतम अपनी प्रिया को बिदा देने और लेने के लिए वहाँ पर खड़ा नहीं था ।

ताड़ के ऊँचे वृक्ष सिर हिलाकर उससे बिदा-सम्भाषण करने लगे । दास-दासियों की भीड़ वैसी ही खड़ी दीर्घ श्वास से उसकी यात्रा भारी करने लगी । सामने के बरामदे में घर की बहू का गम्भीर मुख वैसा ही दीखने लगा । और कदम्ब पर बैठी कोकिला वैसी ही अपने गान में मस्ताने लगी । बगीचे की फुलवारी में फूलरानियाँ वैसी ही हँसने लगीं । वाद्य-कोलाहल के साथ वरयात्री सामने से निकल गये । फेरीवाले वैसे ही पुकार-पुकारकर फेरी करने लगे । वहाँ कुछ परिवर्तन नहीं था । और उस अपरिवर्तन के भीतर सविता अपने परिवर्तित मन में मन ही मन रो पड़ी—अरे कठोर, निर्दय, जाने की बेला पल भर के लिए भी तो दर्शन देता जा । इस लुटे हुए मन की बिदा की भेंट तो लेता जा । दीर्घ विच्छेद के लिए बिन्दु-परिमाण सहारा तो देता जा, जिसके बल पर वे सुने बड़े बड़े दिन कट सकें । मेर पत्थर के राजकुँवर, मूक-बधिर कब तक बना रहेगा ? कभी तो बोल । जाने की बेला आँखें खोलकर तो देख । तेरी रानी तेरे लिए आरती सजाये कब तक खड़ी रहेगी ? और तेरे लिए सजी आरती वह दुनिया के किस कोने में उतारेगी ?

घर-घर-घर मोटर चल पड़ी । सविता की प्रतीक्षा की सुनी बेला उस शब्द में पछाड़ें खाकर हाहाकार कर उठी । गृहिणी ने उसका हाथ पकड़कर

खींच लिया—खिड़की पर ऐसी झुकी है कि गिर पड़ेगी सतिया। अच्छी तरह से बैठ जा।

चौककर सविता ने अपने बाहर निकले हुए आधे घड़ को भीतर खींच लिया और सीट पर बैठ गई।

‘घर के लिए जी घबरा रहा है बिटिया?’—सत्यभामा ने पूछा।

‘हाँ, अम्मा। तुम मेरे साथ हो, फिर भी क्या जाने कैसा सूना लग रहा है।’

वह करुणा से हँसी।

‘चलो मा, लौट चलें। मैं तो अब अच्छी हूँ।’

‘पगली, अच्छी कहाँ है? हाड़ का ढाँचा ही तो बच पाया है। घर में भी तो तू अकेली पड़ी रहती थी बिटिया। बहू ऐसी आई कि घमण्ड ही में फूली नहीं समाती। बस किताब और बनाव-सिझार और घमण्ड!’

‘बहुत अच्छी है मा, रेखा दीदी। मैं ही तो उनसे नहीं बोलती।’

‘तू नहीं बोलती?’

‘हाँ मा, ज्यादा नहीं बोलती। जाने कैसा डर-सा लगता है।’

गृहिणी खेद से हँसी—‘मैं बूढ़ी हूँ, पुरानी हूँ, फिर भी सब कुछ समझती हूँ सतिया। वह तुझसे जलती है, तुझसे घृणा करती है।’

‘तुझसे?’

‘हाँ। तू लिखी-पढ़ी नहीं है और घर में सबकी दुलारी है। बात यही है। तेरे सरल मन में मैं दुनिया की कालिख भरना नहीं चाहती। फिर भी थोड़ा-बहुत समझना सीख। दुनिया में रहना है। मेरी जिन्दगी अब कितने दिन की? मुझे तेरी फिकर लगी रहती है।’

‘ऐसा मत कहो अम्मा।’—सविता के नेत्र छलछलता आये।

‘तू रोने क्यों लग गई?’

‘तुम तो मरन को कहती हो। मैं तुम्हारे बिना कैसे रहूँगी?’

उस रोती हुई बालिका को हृदय से लगाकर गृहिणी चुपचाप बैठी रह गई। वह इस लड़की को सान्त्वना के दो शब्द भी तो नहीं कह सकती।

दुनिया में वह सबसे ज्यादा अपराधिनी हैं इसी लड़की के सामने। अपराधिनी ? हाँ, उन्हें ने तो आभिजात्य के गर्व और लुद्र संस्कार के वश हो उससे उसका प्राप्य आसन छीन लिया और छीनकर उस रूपगर्विता, रूपसी, विदुषी को दे दिया। भूल आदमी करता है; किन्तु ऐसी भूल ? जान-बूझकर ऐसी भूल ? क्या वह अन्धी थीं ? कमलेश को, इस लड़की को और स्वयं को क्या वह देख नहीं रही थीं ? फिर ऐसा क्यों किया ? क्या इससे वही सुखी हो सकी हैं ? लड़के को संसार में आबद्ध करना चाह था, और जब ईश्वर के वरदान ही की तरह एक भोली लड़की ठीक उनकी गोद के पास आ गई, तब उन्होंने अहङ्कार में आ उसे दूर फेंक दिया। अपना और लड़के का जो कुछ करना था सो किया; किन्तु इस लड़की का ? विचार के बाद विचार उठने लगे सत्यभामा के मन में और वह वैसी बैठी की बैठी रह गई।

‘अम्मा ?’

‘क्या यहना चाहती है ?’

‘कुछ नहीं।’—धीरे से वह बोली।

‘सच तो कह सुरसती।’—उसकी आँखें पोंछकर गृहिणी कहने लगीं—
क्या सच ही तू विवाहिता है ?

‘हाँ।’—सविता का उत्तर सङ्कोचहीन था।

‘ठहर, जरा मुझे समझने दे। तेरी शादी बचपन में हुई थी ? सच कह।’

‘बचपन में नहीं।’—मन्त्रमुग्ध की नाई वह कह उठी।

‘और अपने पति को पहचानती नहीं है ?’

‘पहचानती हूँ।’

गृहिणी चकित हो गई। फिर सहमकर बोलीं—पहले क्यों गूँगी बनी रही ? उनका स्वर वेदना के अतल में डूब रहा था।

सविता ने सत्यभामा के हृदय में मुँह छिपा लिया और सत्यभामा आँसू पोंछने लगीं।

गाड़ी स्टेशन पर पहुँची। सामान ट्रेन पर रखा जाने लगा। जब सब लोग गाड़ी पर बैठ गये, तब कमलेश दौड़ता-हाँफता पहुँच गया।

हाथ का बगडल बैच पर रखकर वह सविता के निकट बैठ गया—मा, इसमें सविता के लिए गरम कोट है। मुझे याद आया तो दौड़ा दुकान चला गया। बहुत दूँदा; किन्तु अच्छा नहीं मिला। और लिफाफे-कागज हैं। तुम रोज चिट्ठी लिखा करना सविता, वरना...।

गाड़ी छूटने की सीटी बज उठी। कमलेश बात पूरी कर न पाया। मा के चरण छू वह उतर पड़ा। गाड़ी चल पड़ी।

सविता ने आकुन आग्रह से जब उस ओर देखा, तब प्लैटफार्म दूर निकल चुका था। गृहिणी ने सविता को खींचकर गोद में बैठा लिया—मैं अन्धी थी बेटा; पर अब तो सब कुछ हो चुका है। सुरसती...

‘कुछ नहीं मा। अब और कुछ नहीं।’

सविता उनसे लिपट गई।

गाड़ी फक-फककर चलने लगी।

[३१]

‘दो-एक मटन-चाप और ले लो न।’—परसी थाली पर पंखा झलती हुई रूपरेखा बोली।

कमलेश भोजन पर बैठा था। रूपरेखा पंखा झल रही थी। इससे पूर्व इस काम को माता करती थीं। माता के स्थान पर पत्नी को बैठी देखकर माता के लिए कमलेश का जी रो-सा पड़ा। और रूपरेखा के ऐसे सान्निध्य से वह अस्वच्छन्दता का अनुभव करने लगा किसी तरह मुँह का घ्रास निगलकर उसने कहा—मँगाओ, अच्छे बने हैं। मुझे विस्मय हे रेखा, रसोइये ने ऐसी अच्छी चीजें बनानी कब से सीख लीं?

‘महाराज तो बस दाल-साग में मिरच-नमक भरना और भंग घोटना जानते हैं। यह मैंने बनाई है।’—वह हँसने लगी।

सरल चित्त से कमलेश ने उस हँसी में योग दिया। ऐसे समय तार लेकर नौकर पहुँचा। जल्दी से रूपरेखा ने तार पढ़ा, बोली—मा का है। निरापद पहुँच गई हैं।

मा का है? कमलेश का मन अतीत में लौट गया। मा होती तो उससे

अब तक दस बार पूछती—तूने आज कम क्यों खाया ? जी खराब तो नहीं है ? थोड़ी खीर और ले बेटा । सुरसतिया, खीर ले आ । और तब वह अपनी-सी सविता, फूल की मीठी हँसी-सी सामने खड़ी हो जाती । तब दोनों भगड़ने लगते । मा अपनी सुरसती को कम डाँटती ; किन्तु उस पर फटकार पड़ती अधिक ।

कमलेश ने भोजन से हाथ खींच लिया । उसे उठते देखकर रूपरेखा विस्मित हुई—सब ज्यों का त्यों पड़ा है । और चाप मँगवाये सो भी नहीं खाये । बैठिए, भोजन तो भरपेट कर लीजिए ।

तब तक कमलेश अपने कमरे में पहुँच गया ।

घर के सब लोगों का भोजन हो चुका था । कमलेश उस दिन निमन्त्रण में गया था । रात्रि का निमन्त्रण था । उसे लौटने में देर थी । रात्रि दस की घण्टी बज चुकी थी ।

रूपरेखा लायब्रेरी में शरद का 'चरित्रहीन' ढूँढ़ती फिर रही थी । घर की बहू रूपरेखा अब घर की गृहिणी थी । किताबों के लिए अब उसे भिखारिन-सी किसी के सामने हाथ नहीं पसारना पड़ता । लायब्रेरी की एक चाभी अब उसके पास रहती थी । मनमानी पुस्तकें पढ़ती और नियम से गृहस्थी चलाती ।

ढूँढ़-ढूँढ़कर वह हैरान हो गई । किताब नहीं मिली । रूपरेखा ने घर का कोना-कोना ढूँढ़ डाला और ढूँढ़ती हुई वह कमलेश के शयनागार में चली गई । 'चरित्रहीन' पुस्तक उसने अपने नैहर में बहुत पहले पढ़ी थी ; किन्तु फिर भी पुस्तक नूतन-सी लग रही थी और उसे पढ़ने के लिए वह अधीर हो रही थी ।

टेबल पर किताब मिल गई । रूपरेखा वहीं पलंग पर बैठकर किताब पढ़ने लगी और फिर पुस्तक में ऐसी डूब रही कि वहाँ से उठ जाने की बात ही भूल गई ।

बारह बजते-बजते कमलेश पहुँचा । कमरे में पहुँचकर वह जरा अवाक हुआ । रात की निगुत्थी में, स्वप्न-लोक की रानी-सी गृह उज्ज्वल किये बैठी

थी रूप की हेम-दीवट, रूपसी रूपरेखा। उस रूप की ओर से आँख फेर लेना कदाचित् देव को भी असाध्य हो जाता, फिर कमलेश तो मनुष्य ही ठहरा।

हजार कमलेश पति-पत्नीत्व को अस्वीकार करना चाहे, हजार वह अपने को प्रेम और दुनिया से अविश्वासी जताना चाहे; किन्तु उस अनिन्द्य सुन्दर रूप-निविड़ यौवन की दीप्त-शिखा को, उस विदुषी, कर्मनिष्ठा नारी को गहरी रात में अपने ही शयनागार में पा उसके मन में एक वृष्टा, एक पुलक, एक लालसा जाग ही पड़ी।

‘बारह बज गये और मैं जान भी न सकी।’—कमलेश को देखकर रूपरेखा जरा सी हँसी। फिर अँगड़ाई लेती हुई खड़ी हो गई।

‘बैठो न रेखा, जाती क्यों हो? कौन-सी किताब है?’

‘चरित्रहीन।’

‘यह तो बहुत पहले निकली थी। तुमने पढ़ी न थी?’—कमलेश कुरसी खींचकर बैठ गया। रूपरेखा को भी बैठना पड़ा।

‘पढ़ ली थी।’

‘ऐसी यह क्या अच्छी है, जो फिर से पढ़ रही हो?’

‘मुझे बड़ी अच्छी लगती है।’

‘अच्छी लगती है? मुझे नहीं लगती। लेखक ने नाम भी कैसे मजे का रख लिया है—‘चरित्रहीन।’ पाठक बेचारे गोरखधन्धे में भटकते फिरें। चरित्रहीन! कभी किरणमयी को समझें, कभी...’

‘किरणमयी को?’—रूपरेखा विस्मय से कहने लगी—किरण को तो मैं असती समझ ही नहीं सकती।

कमलेश जोर से हँसा—शराब तो मैं ही पीता हूँ। आज क्या तुमने भी पी ली है रेखा? क्या वह पति का घर करते हुए भी मन में उपेन्द्र को नहीं चाहती थी?

‘फिर उससे क्या? देह तो उसकी पवित्र रही न? मन में यदि कभी

प्रकृति का चुम्बन अक ही जाय तो उसके लिए प्रकृति में बसे हुए जीव कर ही क्या सकते हैं ?'

‘तो वह सती थी ?’

‘जरूर । मन में उसने दो आदमी को चाहा, किन्तु शरीर तो उसका पावन ही रहा ? फिर सती क्यों नहीं है ?’

व्यङ्ग से कमलेश का स्वर व्यस्त होने लगा—यदि किरणमयी सती हो सकती है, तो आज बाजार की वेश्या पूरबी का भी हमें सती कहना पड़ेगा । जो स्त्री पति की वैसी बीमारी में, यों कहो कि पति के अन्तिम समय पर भी बन-ठन कर मर्दों को लुभाने की चेष्टा करे, डाक्टर से बैठकर प्रेमालाप कर सके, उसे तो मैं राक्षसी के सिवा और कुछ नहीं कह सकता हूँ ।

‘जरा-सी सहानुभूति, वास्तविक व्यथा से भी तो किरणमयी को देखो । उस जैसी रूप-गुणवती विदुषी जिस परिस्थिति में जा पड़ी, जरा उस पर भी तो नजर डालो । वह नारी थी, देवी नहीं । उसका यौवन जब परिपूर्ण होकर, मतवाला-सा पति के दरवाजे पर माथा पीटता फिरने लगा ; तब कौन-सी सम्पत्ति दे दी थी उसके पति ने ? प्रकृति में बसे हुए जीव को यदि प्रकृति ने अपने रंग से रंग ही लिया तो उसका क्या दोष ? किरणमयी राक्षसी नहीं, राक्षसी है प्रकृति ।’

‘क्या जाने रेखा, तुम्हारी बातें मैं नहीं समझता । माता प्रकृति को तुम राक्षसी कहती हो ?’

‘कहती हूँ और जोर के साथ कहती हूँ ।’

‘ऐसा नहीं हो सकता । क्योंकि वह माता-सी हमें अपने स्तनों से पालती है ।’

‘सो ठीक है, प्रकृति माता-सी हमारा पालन अवश्य करती है और वही प्रकृति राक्षसी-सी हमारा रक्त भी चूसती है । प्रकृति के प्रत्येक चुम्बन के भीतर मौत छिपी बैठी रहती है ।’

असहनीय विस्मय से कमलेश ने पत्नी को देखा । इस विदुषी को देखकर आँखें भुलसती जरूर हैं किन्तु तृप्ति नहीं होती । कमलेश ने मुँह फेर लिया ।

रूपरेखा उठकर खड़ी हो गई। शिथिल कबरी खुल गई। मेघनिबिड़ केश पीठ पर फैल गये। मस्तक का वस्त्र जमीन पर लोट रहा। सामने के आईने में उसकी छाया पड़ रही थी।

‘किताब मैं लिये जाती हूँ।’—वस्त्र सँभालती रेखा आगे बढ़ी।

कमलेश ने पुकारा—कहाँ जाओगी ? अकेली रात में कहाँ सोओगी ? आओ, यहीं सो रहो।

विराग-मिश्रित विस्मय से रूपरेखा ने पति को देखा ; फिर धीरे गति से निकलकर चली गई। और कमलेश जाने क्यों कुछ शर्माया, कुछ हँसा, कुछ क्रुद्ध हुआ ; फिर आराम से सो रहा।

[३२]

भरी दोपहरी के सूनेपन में भण्डार में बैठी थी रूपरेखा। वह महीने भर का सौदा-सामान बीन-फटककर रख रही थी। दौरी, टोकरी आदि कमरे में बिखरी पड़ी थीं। चावल के मटके भरे जा चुके थे। कुछ टोकरियाँ सामान से भरी रखी थीं। रूपरेखा डिब्बे में जीरा भर रही थी।

जूते की आवाज सुन उसने मुँह उठाया। जूते बाहर उतारकर पृथीश ने कमरे में प्रवेश किया। आते ही बोला—वाह भाभी, मैं ऊपर-नीचे तुम्हें ढूँढ़ता फिरा और आप बैठी हैं भण्डार में !

‘आइए पृथीश बाबू ! यहाँ नहीं ; चलिए डाइङ्ग रूम में चलें।’

‘न, यहीं बैठूँगा।’

एक चौकी रूपरेखा के निकट खिसकाकर वह बैठ गया—यह सब क्या कर रही हो ?’

‘सामान उठा रही हूँ।’

‘सो तो देख रहा हूँ। नौकर कहाँ गये ?’

‘दो बज रहे हैं। उन्हें छुट्टी दे दी।’

‘उन्हें छुट्टी दे दी और आप काम में जुटी हुई हैं। चलो। यह भी ठीक है।’

‘वे भूखे-प्यासे कब तक मेरे साथ रहते ? आखिर वे भी तो आदमी हैं।’

घर का काम है, चाहे आज करूँ या कल । करना तो मुझे ही है । दूसरों का किया काम मुझे पसन्द नहीं आता ।’

‘तुम मुझे अचम्भे में डाल रही हो भाभी । क्यों भूलती हो कि घर-गृहस्थी के काम करने के लिए तुम्हारा जन्म नहीं हुआ है । बाहर तुम्हारी पुकार हो रही है भाभी । इस छोटे-से स्थान में तुम नहीं समा सकतीं । घर की छोटी-सी जगह में तुम्हारी प्रतिभा बन्द हाँकर कैसे रह सकती है ? और क्यों तुम उसे यहाँ पर बन्द किये बर्बाद करना चाहती हो ? बोलो, उत्तर दो ?’

वह बड़ी है और फिर इतनी बड़ी ? उस स्तव-स्तुति को सुनते-सुनते रूपरेखा विभोर हो गई । हाथ का डिब्बा जमीन पर गिर पड़ा । जीरा बिखर गया, किन्तु उसकी चेतना न लौट सकी । केवल उसे घेरकर रह गया एक बड़प्पन । वह बड़ी है । दुनिया की स्त्रियों के परे है वह । न वह प्रेम की कंगालिन है, न पति की ।

रेखा विचार चली—हाँ, मैं बड़ी हूँ, सबसे बड़ी । तभी तो कल रात अनायास जो वस्तु पैर तले पहुँच गई थी, उसकी अवहेलना कर मैं विजय-गर्व से लौट आई । वह पति की लालसा थी ? क्षण-भर का मोह था ? जरा-सी उत्तेजना थी ? शायद वैसा हो, किन्तु पाई थी मैंने उसी एक नास्तिक, दुनिया की सत्ता को न माननेवाले, प्रेम को अस्वीकार करनेवाले एक अद्भुत विचारवाले व्यक्ति पर विजय । चाहे वह पल भर के लिए ही रहा हो, उसका मोह ही हो, फिर भी मैंने जीत न लिया था उन्हें ? और मैं बड़ी हूँ, तभी न अवहेलना से त्याग भी सकी । यदि मैं छोटी होती, घर की संकीर्णता के भीतर आबद्ध रहने के लिए मेरा जन्म हुआ होता, तो कल रात की एक घड़ी में मेरा जीवन ही बदल जाता । और उसी हृदयहीन के पदतले लोटने लगती, जिसने मेरे जीवन के अनमोल पलों को नष्ट कर दिया है । उसी स्वार्थी, प्रेम को न माननेवाले व्यक्ति की मैं किकरी बन गई होती ; किन्तु वैसा करती कैसे ? मैं तो दुनिया में सबसे बड़ी हूँ । आज्ञा देने के लिए मेरा जन्म हुआ है । सबकी होकर रहने के लिए आई हूँ, फिर एक की होकर रहती कैसे ?

मटके के पीछे से एक चूहा खुरखुराता भाग निकला। रूपरेखा चौंकी। फिर झुककर जीरा उठाने लगी।

‘फिर वही कर रही हो भाभी?’—पृथ्वीश झुँझला रहा था।

‘जीरा गिर गया है। उठा लूँ।’

‘तुम्हें यह काम मैं करने न दूँगा।’

‘देखिए न, बात ही बात में चाय की वेन्ना हो गई। आप चलकर बैठक में बैठिए। पाँच मिनट में मैं लेकर पहुँचती हूँ।’ वह जल्दी-जल्दी जीरा उठाने लगी।

पृथ्वीश ने झुककर उसका हाथ पकड़ लिया—कह रहा हूँ, यह सब काम तुमको करने न दूँगा। न मानोगी तुम?

रूपरेखा के वेश की सुगन्ध पृथ्वीश के श्वास में भर गई।

कमलेश का आना किसी ने न जान पाया। चाय के लिए पत्नी को दूँदता वह वहाँ तक चला आया था।

रूपरेखा उठकर खड़ी हो गई—अच्छा भाई साहब, न उठाऊँगी। चलिए, पहले आप दोनों को चाय दे दूँ।

रूपरेखा कमलेश की बगल से निकलकर चली गई। पति के गम्भीर मुख को उसने शायद देखा, शायद न देखा; किन्तु पृथ्वीश की दृष्टि से कमलेश का रोष छिपा न रह सका। वह रुमाल की आड़ में हँसी को छिपाने लगा।

बिना कुछ बोले ही दोनों चाय के टेबल पर बैठ गये।

पृथ्वीश ने पूछा—मा की खबर मिली?

चाय और बिस्कुट रखकर रूपरेखा ने कहा—चाय पीते जाइए और बातें करते जाइए पृथ्वीश बाबू, वरना चाय ठण्डी हो जायेगी।

‘केक खाने के लिए मैं नहीं आया भाभी! कचौरी कहाँ है?’

‘आज नहीं बना पाई। कल जरूर बनाऊँगी। आप आ जाना।’

रूपरेखा चली गई।

‘मा का पत्र मिला कमल?’—पृथ्वीश ने फिर पूछा।

‘हाँ। मैं भी जल्दी ही जाऊँगा।’

‘अकेले ?’

‘क्यों ? क्या तुम भी चलना चाहते हो ?’

‘मैं ? मैं तो शायद जल्दी ही क्वेटा चला जाऊँ । और मेरा वहाँ जाना शायद सबको अच्छा न भी लगे ।’

‘क्यों, खराब किसे लगता है ?’

पृथीश मौन रहा ।

‘वहाँ मा और सविता के सिवा वृह है ही कौन ? मा के लिए हम-तुम बराबर से हैं । रही सविता । तो उसे किसी से विद्वेष-घृणा नहीं है । वह तो दुनिया को अपना बनाये बैठी है । फिर यदि कोई उसे कुछ और समझे तो वह बात दूसरी है ।’

चाय का कप लिये रूपरेखा पीछे कुरसी पर बैठ गई ।

‘तो तुम अकेले ही जा रहे हो ?’—पृथीश ने फिर पूछा ।

‘बड़ी मुश्किल की बात है । दूसरा कहाँ से लाऊँ, जो मेरे साथ चले ?’

‘भाभी अकेली यहाँ रहेंगी ?’

कमलेश हँस पड़ा—इस घर में बाघ-चीते थोड़े ही हैं, जो निगल जायेंगे । और न तुम्हारी भाभी सविता हैं कि उन्हें मेघ-गर्जन तक से डर लगे । वह तो सविता है, जो बिजली की कड़क से भी काँपने लगती है । उसके लिए अकेले रहने का प्रश्न उठना स्वाभाविक भी होता ।

पीछे बैठी रूपरेखा का मुँह कठोर हुआ और पृथीश कुछ कहते-कहते रुका । उस पति-परित्यक्ता की ओर वह देख भी न सका । किसी तरह जल्दी-जल्दी उसने चाय पी और चल दिया । उसके पीछे चली गई रूपरेखा बाहर की दातान तक ।

कमलेश उठा तो उसने देखा कि बाहर की दातान में खड़ी-खड़ी रूपरेखा पृथीश से कह रही है—रोज आया करो भाई साहब, वरना इस घर में गूँगी-सी रहकर मेरा श्वास किसी दिन रुक जायेगा ।

पृथीश चला गया । गम्भीर मुख से कमलेश पत्नी के निकट पहुँचा । उसने पत्नी से कहा—मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ, रूपरेखा, कि मा की

असम्भति से इस घर में कोई भी काम नहीं होता। पृथीश मेरा मित्र है, सो ठीक है। किन्तु उससे ऐसी घनिष्ठता मा को रुचिकर न होगी।

‘तौ क्या आप लोग मुझे एक कैदी ही समझते हैं ?’—धोरे स्वर से रूपरेखा ने पूछा।

‘कैदी ? किन्तु क्या कभी इस घर में तुम्हारे साथ कैदी-सा बर्ताव किया गया है ? मैंने केवल मा की बात तुम्हें कह दी है। अब जैसा चाहो वैसा कर सकती हो।’

रूपरेखा ने मुँह फेर लिया विराग से। घृणा और विरक्ति से उसका चित्त आच्छन्न-सा हो आया। वह भीतर चली गई।

दूसरे दिन जब ‘भाभी-भाभी’ पुकारता पृथीश कमलेश के झाड़ू रूम में पहुँचा, तब रूपरेखा चुप तो रह ही न सकी ; वरन् आदर-सम्मान की भरी डाली हृदय में ले वह द्वार का परदा हटाती पृथीश के सामने आकर खड़ी हो गई। कमलेश वहीं पर बैठा अखबार पढ़ रहा था। पृथीश ने दोनों हाथ जोड़कर रूपरेखा से कहा—आज्ञा दो, भाभी। आज मैं क्वेटा जा रहा हूँ।

‘आज ही ?’—रूपरेखा ने पूछा।

‘हाँ, सामान मोटर पर लद गया है। बाहर मोटर खड़ी है।’

‘किन्तु अभी ऐसी जल्दी, मैं तैयार कैसे हो सकती हूँ ? जरा घण्टा भर ठहर जाओ। मैं भी तैयार हो लूँ।’

‘तुम ! चलोगी ?’—विराट् विस्मय से पृथीश ने पूछा।

‘हाँ, मैं क्वेटा चल रही हूँ आपके साथ।’

‘मेरे साथ, अकेली तुम ! हाँ, कमलेश भी जा रहा है न ?’

रूपरेखा जाती-जाती लौटी—नहीं। मैं अकेली ही चलाऊँगी। और यदि आपको मुझसे डर हो, तो चले जाइए ; मैं अकेली चली जाऊँगी।

बस इसके बाद वह भीतर चली गई।

कुछ देर तक पृथीश हतवाक् हो रहा, फिर उसने कमलेश से पूछा—बात क्या है कमलेश ?

‘बात ? नहीं, कुछ नहीं। वह जाना चाहती हैं, और तुम जा रहे हो, सो लिवा ले जाओ।’—उत्तर-प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही कमलेश बाहर हो गया।

पृथीश असमंजस में पड़ा खड़ा रह गया। एक बार जी चाहा कि भाग जाये ; किन्तु फिर भी वह उस ज्वालामुखी-सी स्त्री की आज्ञा की अवहेलना न कर सका।

कमलेश की आँखों के सामने से रूपरेखा और पृथीश को लेकर मोटर चली गई। लायब्ररी में बैठे हुए कमलेश ने एक बार उस और देखा, फिर पुस्तक में निविष्ट हो रहा।

दूसरे दिन नौकरों को घर-गृहस्थी सौंपकर कमलेश भी रात आठ बजे की गाड़ी पर बैठ गया। वह माता के निकट जा रहा था।

प्रातःकाल उठकर सविता खुशी से चिल्ला पड़ी—मा, उठ तो, वह आ गये हैं।

शीत से काँपती सत्यभामा निकल आई—कमला, आ गया बेटा !

प्रणत पुत्र को माता ने हृदय से लगा लिया। सविता से बोलीं—जल्दी स्टोव जला ले। बच्चा भूखा है। खड़ी है। अरी जल्दी कर।

कमलेश जल्दी में कह उठा—उसे काहे की फिकर। चाय पीकर बैठी होगी। देखो न मा, फिर भी खड़ी है।

‘तो क्या मेरे पैर में पंख लगे हुए हैं ?’—सविता मुँहलाई।

‘नहीं लगे हैं तो यहाँ पर उड़कर आई कैसे ?’

‘चाहे जैसे आई हूँ, तुम्हें क्या करना है ?’

‘अच्छा, यों कहो कि गन्धर्व महाशय उड़ाकर लाये हैं।’

सविता रोने-रोने हो गई—देखो अम्मा !

सत्यभामा मीठी हँसी हँसी—क्यों उसे चिढ़ाता है कमला। यहाँ आकर बेचारी लड़की उदास हो रही थी। आज तुम्हें देखकर उसकी हँसी लौटी है। और तू ऐसा है कि आते ही लगा उसे चिढ़ाने। गृहिणी स्नान करने चली गई।

स्टोव जलाकर सविता ने चाय का पानी रख दिया। तब तक कमलेश हाथ-मुँह धोकर आ गया।

‘तुम मेरे लिए उदास थीं, सच सविता?’ कमलेश ने पूछा।

‘मुझे क्या गरज पड़ी है जो किसी के लिए उदास होऊँ?’—वह आगत-प्राय हँसी को रोककर बोली।

‘ऐसा? तो मैं चला न जाऊँ?’

‘जाओ न। किसने बुलाया है यहाँ पर तुम्हें?’

‘लो, तो चला मैं!’ कमलेश द्वार की ओर बढ़ा।

अधीर स्वर से सविता पुकारने लगी—‘नहीं, तुम मत जाओ। यह घर फिर से सूना हो जायेगा।’

प्रातः के इस अनोखे पल में, फूल की पँखुड़ी-सी इस लड़की के शब्द कमलेश को बड़े अच्छे लगे। ऐसा लगने लगा उसे, मानों पथ-भ्रान्त पथिक को पथ का एक सच्चा निर्देशक मिल गया। मरुभूमि के तृष्णार्त को शीतल जल की नदी मिल गई।

कमलेश आकर बैठ गया सविता के निकट बिलकुल उससे लगकर—मेरे बिना तुमको सूना लगा करता है सवि रानी?

‘हाँ-हाँ, सूना। क्या तुम नहीं जानते?’—एक शिशु की भाँति सविता कह उठी।

कमलेश चौंका। उसके हृदय की ग्रन्थि शिथिल-सी पड़ गई। एक दद भरे स्वर में बोला—‘किन्तु आज मेरे पास वह चीज नहीं है रानी। सुनती हो सविता? मैं अपनी लालसा में तुम्हारी आहुति नहीं दे सकता। चाहे और किसी स्त्री के साथ वैसा कर सकूँ; किन्तु तुम्हारे साथ नहीं। यदि किसी दिन तुम्हें वास्तविक प्रेम दे सकूँ तो उस दिन तुम मुझे लौटा तो न दोगी सविता?’

उत्तर? किन्तु सविता के रोम-रोम में न जाने एक कैसी आतुरता, कैसी सिहरन भर गई, जिसने उसके स्वर तक को दबा दिया, फिर वह बोलती कैसे?

सत्यभामा पहुँच गई। दूर से उन्होंने उन दोनों को बैठे देखा। नेत्र में जल भर आया। वह कमरे के भीतर जा न सकी।

बारह बजे कमलेश भोजन पर बैठा था।

सत्यभामा ने पूछा—घर-गृहस्थी ठीक चल रही है न बेटा? दुलहिन को अकेली छोड़कर आया है?

‘रूपरेखा को पूछ रही हो मा?’—मलाई खाते-खाते वह बोला।

‘हाँ, वह अच्छी है न?’

‘अच्छी ही होगी।’

‘कोई तकलीफ तो तुमको नहीं है कमल?’

‘कुछ नहीं अम्मा। बस, वहाँ जी नहीं लगता।’

‘हम जल्दी ही लौटेंगी। घबराओ मत; परन्तु अकेले घर में बहू का रहना ठीक नहीं। तुम जल्दी लौट जाना।’

‘परन्तु घर में जब कोई बहू हो तब न!’

‘दुलहिन घर पर नहीं है? मायके गई है?’

‘नहीं। केटा गई है।’ अनायास कमलेश ने कह दिया।

‘केटा गई है! जरा साफ तो कह, क्या कहता है?’

‘कह जो रहा हूँ कि वह पृथ्वीश के साथ केटा गई है।’

गृहिणी ने कुछ कहा; किन्तु वे शब्द एक आत चीत्कार के सिवा किसी की भी समझ में कुछ न आये।

परिहास करने जाकर माता के मुख पर दृष्टि पड़ते कमलेश स्तम्भित हो रहा। और इसके बाद जूठे हाथों ही उसने मा को पकड़ लिया।

‘मेरी अम्मा, तुम्हें क्या हो गया? मा-मा, बोलतीं क्यों नहीं?’—सविता रोने लगी।

गृहिणी जरा सहमीं—रोती है सतिया। मैं अच्छी हूँ बेटा, रोओ मत।

‘मा।’ कमलेश ने पुकारा।

‘तू अभी चला जा कमला, और जाकर घर की बहू को वापस ला, वरना मैं घर न लौटूँगी।’

सन्ध्या समय कमलेश मा को प्रणाम कर गाड़ी पर बैठ गया। वह बोला—यदि वह लौटी तो उसे घर वापस ले आऊँगा। इसके बाद गाड़ी चल पड़ी।

[३३]

भक-भक-भक-भक—गाड़ी चली जा रही थी। सर-सर-सर-सर पवन बह रहा था। भन-भन-भन-भन गाड़ी काँप रही थी। और रात की घड़ियाँ नींद से झुक रही थीं।

‘सो गईं भाभी।’ पृथीश ने पूछा।

सेकण्ड क्लास के डिब्बे में भीड़ नहीं थी। एक बेंच पर रूपरेखा कमबल ओढ़े पड़ी थी। दूसरे पर पृथीश बैठा बीड़ी पी रहा था।

रूपरेखा उठकर बैठ गई—जाग रही हूँ भाई साहब।

‘आराम से सो रहो न, दो बज रहे हैं।’

‘नींद नहीं आ रही है।’

‘क्यों भाभी?’

‘क्रेटा देखने की उतावली।’

‘उतावली है? किन्तु उस ध्वंस को देखने के बाद तुम्हारा यह उत्साह न रहेगा भाभी, सो अभी से कहे देता हूँ।’

रूपरेखा का जी चाहने लगा कि चिल्लाकर कहे—मेरे इस हृदय के ध्वंस से क्या वहाँ का ध्वंस अधिक भयावह है? अरे अन्धे नर, जरा आँखें खोलकर तो देख। नारी के इस ध्वस्त, मथित, त्रस्त हृदय के प्रति। क्या इस ध्वंस से भी वहाँ का दृश्य डरावना होगा? उस ध्वंस के सामने मधु-पूर्ण गागरी तो भरी हुई न पड़ी होगी? एक ही पल में तो क्रेटा पृथ्वी के गर्भ में समा गया होगा न? किन्तु इस हृदय की तरह उसे पल-पल तो आग में जलाया न जाता होगा? हाँ, मधु की भरी गागरी भी न पड़ी होगी; वही गागरी, जिसे आकंठ पान करने के लिए मनुष्य कभी उन्मादी भी हो उठता है। वही गागरी, जिसके मधु की शेष बूँद तक चूसने के लिए जीव बावला रहता है! वही गागरी, जिसकी भावना मात्र से शरीर का रक्त उन्मादी हो

जाता है। फिर वैसी एक गागरी तो उसके सामने नहीं है न ? जी चाहने लगा रूपरेखा का बहुत कुछ कह दे ; किन्तु उसने यह सब कुछ नहीं कहा।

‘ध्वंस ही में तो जीवन बसा हुआ है, फिर उससे डरना कैसा ?’—संयत स्वर से रेखा ने कहा।

‘ध्वंस में जीवन बसा है ? तुम्हारी बातें मैं समझ नहीं पाता हूँ भाभी।’

‘सीधी-सी तो बात है भाई साहब ! जीवन बसा है ध्वंस में और ध्वंस बसा है जीवन में। एक ओर है ध्वंस और दूसरी ओर है सृष्टि। बस, पृथ्वी के वायुमण्डलों में यही मन्त्र गुञ्जरित हुआ करता है। जो ध्वंस एक दिन अवश्य-म्भावी है, फिर उसे देखकर डरना कैसा ? हम मनुष्य आदि शक्ति से ओत-प्रोत हैं तो हम जीतेंगे उस ध्वंस को। और जय पायेंगे पृथ्वी पर।’

‘किन्तु मैं ऐसा सोच नहीं सकता भाभी। लो, अब केवल घंटे भर की देर है। बात-बात में रात बीत गई। हाथ-मुँह धो लो। चाय मँगवाता हूँ।’

किन्तु केटा की उस भिखारिन प्रकृति से रूपरेखा को जब परिचय का मुहूर्त उपस्थित हो गया, तो वह विमूढ़ रह गई। रूपरेखा के सामने खड़ा था एक रक्त-मांस-शून्य कंकाल। नहीं-नहीं, कंकाल तो फिर भी अच्छा है। था एक गलित शव। कीटाणु और दुर्गन्ध-पूर्ण शव। अपनी सारी सृष्टि पृथ्वी को लूट लिया था पातालपुर के उस रक्त-पिपासु दैत्य ने, केटा के हृदय को क्षत-विक्षत कर वह दानव पातालपुर के अग्निकुण्ड में बैठा हँस रहा था।

केटा के चहुँओर ये लहू के लाल-लाल छीटे, लहू की सड़ी दुर्गन्ध और अद्धमृत मनुष्यों का करुण क्रन्दन ! जीवितों की जीवन्त समाधि—उस जीवन्त समाधि के बीच में खड़ी-खड़ी रूपरेखा शव-सी विवर्ण हो गई, स्पन्दन-हीन।

उस दृश्य के सामने उसके शरीर के रोम विस्मय, भय और आतङ्क से अकड़-से गये। उसे लगा की जीव का हर्ष यहाँ रुदन में डूब मरा है और अनन्तकाल के लिए डूब मरा है।

‘भाभी।’—पृथ्वी ने उसे हिलाया।

‘चुप-चुप ।’—रूपरेखा फुसफुसाकर बोली—चुप चुप । चिल्लाओ मत ! इस जीवन्त समाधि के भीतर मनुष्य का स्वर न पहुँचने पाये ।

‘भाभी ।’

‘चुप-चुप ! अभी उस दिन तक ये हमारी ही तरह दुनिया के रूप को आँखें भरकर देखा करते थे । और हमारी-सी आशा लिये आगे चढ़े चले जाया करते थे । आज की इस जीवन्त समाधि में भी शायद उनके धुक-धुकाते हृदय में आशा की मोहनी मर न पाई होगी ।’

‘भाभी, क्या बकती हो ?’

‘चुप-चुप, धीरे बोलो ।’

‘शान्त होओ भाभी, क्या कहती हो ?’

रूपरेखा खड़ी थी सो बैठ गई । उत्तर कुछ न दिया । एक ईंट के स्तूप में कान लगाकर कुछ सुनने-सी लगी ।

वे दोनों एक गिरे मकान पर खड़े थे । पथ का कहीं चिह्न तक नहीं था । कहीं बड़े-बड़े गड्ढे, कहीं दरारें, ईंट का ढेर, गिरे मकान और सड़े मुर्दों की भीषण दुर्गन्ध । गन्धक की तेज महक । और जीवित अर्द्ध-मृत्तों का करुण आर्तनाद ।

‘उठो भाभी । क्या सुन रही हो ?’

रूपरेखा सहमी । उठकर खड़ी हो गई । बोली वह—सुन रही थी पृथ्वीश बाबू, जीवन का व्यङ्ग । कान लगाकर सुनो, इस स्तूप के अन्दर कराहने की आवाज सुन सकोगे । कदाचित् इस मकान का प्रभु हो, जिसने पैसा-पैसा जोड़कर, बड़ी आशा से इस घर को खड़ा किया था ; और उसी मकान ने बुभुक्षित उदर में उस बेचारे को भर लिया । यही तो है जीवन का परिहास । चलो, जल्दी करो । हम यहाँ पर परिहास सुनने के लिए नहीं आये हैं । स्वयंसेवकों को इकट्ठा करो और काम शुरू कर दो । तुम जाओ, मैं तब तक यहाँ ईंट-पत्थरों को फेंकूँ ।

‘यह कैसा पागलपन है भाभी ? तुम्हारे हाथ-पैर दुखने लगेंगे । टीले पर

कैम्प बना है। वहाँ चलकर आराम करो। काम चल रहा है और चलता रहेगा; तुम चलो।'।

‘आराम करूँ ? अपने कानों इस आर्त-चीत्कार को सुनकर मैं आराम करूँ ! ऐसा नहीं हो सकता है। जाओ, अपना काम देखो। तब तक मुझे भी कुछ करने दो।’

‘भामी मेरी, तुम्हारी शक्तिमयी मूर्ति ही हमको कार्य करने की प्रेरणा देने के लिए यथेष्ट होगी। तुम आराम से बैठी हमें आदेश दिया करो; बस। यह काम तुम्हारे करने का नहीं है।’

‘मैं अपना काम समझती हूँ। व्यर्थ देर करने से कोई लाभ नहीं।’

वचन शेष कर रूपरेखा विपुल शक्ति से ईंट-पत्थर उठा-उठाकर फेंकने लगी और पृथीश चुपका चल पड़ा।

एक ऊँचे टीले पर छोटी-छोटी छोलदारियाँ तनी हुई थीं। उन्हीं में से एक में बैठी रूपरेखा मरीजों के लिए पथ्य बना रही थी। एक तरफ उसका बिस्तर पड़ा हुआ था। कुछ थोड़ी-सी किताबें, दो सूटकेस, थोड़े-से मैले कपड़े।

उन्हें यहाँ पर आये सप्ताह भर हो गया था। दिन भर रूपरेखा आहतों की सेवा किया करती। बाहर से यथेष्ट सहायता मिल रही थी। सब काम उससे पूछकर किये जाते। शहर कुछ साफ हो चला था। टेण्ट में आहतों को रखा गया था। हैजे की बीमारी फैली हुई थी।

अनभ्यस्त हाथों से रूपरेखा ने जब कार्य-भार उठा लिया तो पहले दो-एक दिन तो उसे अड़चनें हुईं। किन्तु फिर तीसरे ही दिन वह पूर्ण रूप से अपने इस नूतन जीवन के साथ ऐसी धुल-मिल गई कि अतीत को प्रायः निश्चिह्न कर भूल ही बैठी।

कभी-कभी वह सो भी न पाती। सारी रात रोगी के सिरहाने जागती बैठी रहती। पृथीश बहुत कहता, वह एक न सुनती।

बाली बनाकर रूपरेखा ने दलिया चढ़ा दी। फिर चुपचाप बैठ रही।

पृथीश पहुँच गया—क्या सोच रही हो भाभी ?

‘बैठो पृथीश बाबू । सोच रही थी इसी क्रेटा को । इस बेकारी के युग में लाखों बेकार और भी बढ़ गये ।’

‘सो तो है ही भाभी ।’

‘परन्तु उन्हें पेट भरने लायक काम भी इसी दुनिया में देना पड़ेगा, इसकी व्यवस्था कुछ कर रहे हो ?’

‘पहले यहाँ का काम तो सँभालें, तब पीछे की बात पीछे सोच ली जायेगी ।’

‘ऐसा नहीं । साथ ही साथ दोनों काम होने चाहिएँ । इनकी खेती-बाड़ी आदि की व्यवस्था भी होनी चाहिए ।’

‘आज्ञा दो भाभी । हम तो तुम्हारी आज्ञा के दास हैं । केवल मुँह से कह दो कि यह करना है और बस देख लो, वह काम होता है या नहीं ! सच कहता हूँ भाभी, यदि तुम न आतीं तो इतनी जल्दी इतना काम न होता ।’

रूपरेखा जरा-सी लजा गई—आप बहुत बढ़ाते हैं भाई साहब ।

‘बिलकुल नहीं । तुम नहीं जानती कि तुम्हारी उपस्थिति ने कैसी ताकत, कैसा उत्साह हममें भर दिया है । यदि तुम आज चली जाओ, तो मैं शपथ-पूर्वक कहता हूँ, हम शक्ति-हीन हो जायेंगे । यह क्रेटा ज्यों का त्यों पड़ा सड़ता रहेगा । और धीरे-धीरे तुम्हारा पृथीश यहाँ की धूल में निश्चिह्न हो जायेगा । कहो मेरी भाभी, तुम जाओगी तो नहीं ?’—आकुल आग्रह से पृथीश सामने आकर खड़ा हो गया ।

‘मैं कहाँ जाऊँगी ! मेरा घर है ही कहाँ पृथीश बाबू ?’—सम्मोहिता की नाई रेखा कह उठी ।

नारी के उस व्यथित, विह्वल स्वर ने पृथीश को अपनी ओर खींच लिया । सामने बैठी हुई उस रूपसी, विदुषी के पैर तले उसके स्नेह का शेष विन्दु तक निःशेष होकर लिपट जाने के लिए आतुर होने लगा । भरे हुए गले से पृथीश ने कहा—घर नहीं है ? वह अभागा है, जिसने तुम्हारी पूजा करनी न सीखी हो ! यह पूरी पृथ्वी ही तो तुम्हारा घर है भाभी ; और मैं हूँ तुम्हारा सेवक । कभी तुम्हें किस बात की है ? मेरा घर और किस

लिए हैं ? वहाँ की एकच्छत्र रानी तुम हो, और इस हृदय की भी । भाभी, जरा देखो तो इस ओर ।

उस दृष्टि को, उन बड़े हुए बालों को देखकर रूपरेखा सिहर उठी—भाई साहब, आप यह क्या करने जा रहे हैं ? एक छोटे पल में अपने मनुष्यत्व को खोना जानवर का काम है । जरा-सी उत्तेजना में पिसकर मनुष्यत्व को न खोओ ।

‘रूपरेखा, रूपरेखा !’

रूपरेखा शान्त हँसी—नहीं, भाभी कहो । जाओ, जाकर सो रहो । ऐसी दुर्बलता तुम्हें नहीं सोहती । बस चले जाओ ; मैं कहती हूँ, सो रहो ।

उसने हाथ उठाकर सामने का द्वार दिखला दिया, तब आँवी की तरह पृथीश निकलकर चला गया । रूपरेखा ने उस ओर देखा, न देखा, निविष्ट चित्त से काम करने लगी ।

दूसरे दिन रूपरेखा देर तक पृथीश की प्रतीक्षा में बैठी रही, जब वह न आया तो स्वयं उठ उसके तम्बू में पहुँची ।

चादर ओढ़े पृथीश पड़ा था । रूपरेखा ने स्थिर दृष्टि से उसे खड़े-खड़े देखा, फिर असङ्कोच उसक निकट चली गई । चादर हटाकर उसने पृथीश के माथे पर हाथ रखकर देखा । पूछा—भाई साहब, खुश चढ़ा है ?

पृथीश उठकर बैठ गया । रूपरेखा की ओर वह आँख उठाकर देख भी न सका । किसी तरह बोला—नहीं । यों ही जरा हरा-सो है ।

‘उठो, चाय बना देती हूँ, पी लो ।’

रूपरेखा वहाँ जमकर बैठ गई । स्टोव जलाकर चाय बनाने लगी ।

हाथ-मुँह धोकर पृथीश आया ।

‘भाभी !’—सङ्कोच से उसने पुकारा ।

‘हाँ भाई साहब !’

रुक-रुककर पृथीश ने कुछ कहा ; शायद गत दिन के लिए उसने क्षमा माँगी ।

रूपरेखा ने वे बातें न सुनीं, न समझीं, और न उसने सुनना-समझना

ही चाहा। कहा—तीन नम्बर के तम्बू के पाँचों रोगी बच गये, भाई साहब।

‘पाँचों बच गये?’—विस्मय से पृथीश कहने लगा—‘हैजा हो गया था। दो की तो बचने की आशा बिलकुल नहीं थी।

‘बच गये वे पाँचों।’

‘कौन-सी दवा दी थी?’

‘होमियोपैथिक। तुम तो होमियोपैथिक पर जरा भी विश्वास नहीं करते। अब कहो, मानोगे न?’

‘अब तो मानना ही पड़ेगा।’

इस सहज रीति से बात कर सकने से पृथीश के मन का बोझ हलका हो गया।

‘देखो तो कैसा भूलता हूँ। कल धरनी बाबू सामान लेकर लौटे हैं। कह रहे थे, कमलेश आ रहा है, चार बजे तक वह यहाँ पहुँचेगा।’

‘यहाँ!’—रूपरेखा का चौंकना पृथीश से छिपा न रह सका।

‘मुझे आश्चर्य है भाभी, सविता के पास न जाकर वह यहाँ कैसे आ रहा है?’—थोड़ी देर बाद पृथीश ने कहा।

रूपरेखा चुप हो रही।

‘भाभी, कमल मेरा मित्र है। और ऐसा मित्र संसार में मेरा दूसरा कोई नहीं। उसके पीछे मैं उसकी निन्दा करना नहीं चाहता, किन्तु फिर भी कहना पड़ रहा है कि उसे मैंने पहचानने में भूल की। मैं तो कभी सोच ही नहीं सकता था कि कमलेश ऐसा है।’

रूपरेखा चुपचाप सुनने लगी और पृथीश वैसे ही कहता चला—‘मैं नहीं जानता था भाभी, कि वह ऐसा हृदयहीन पशु है। सविता को यदि वह चाहता था तो उससे शादी क्यों न कर ली? तुम्हें क्यों लाया? भाभी, शायद तुम विस्मित हो रही हो, हृदय में चोट लगती होगी, किन्तु मिथ्या में प्रतारित होने से वास्तविक का कटु सत्य कहीं अच्छा होता है। और खास

इसी से तुमको सतर्क करना पड़ रहा है। सविता से तुम सतक रहना। उसे हटा दो।

किन्तु इतना सुनने के बाद भी जब रूपरेखा निर्विकार चित्त से बैठी चाय पीने लगी, तो पृथीश के विस्मय का ठिकाना न रहा।

चाय पीकर वह उठी—अच्छा तो मैं मरीजों के तम्बू में जा रही हूँ।

[३४]

काम-काज शेष कर रूपरेखा अपने डेरे पर लौटी तो वहाँ उसने कमलेश और पृथीश को बैठा पाया। वे दोनों चाय पी रहे थे और उसका कप भी सुरक्षित रखा हुआ था।

पृथीश ने कहा—चाय पी लो भाभी। मैं कमलेश से कह रहा था कि जीवन के सत्य को खोजते हुए भटकते क्यों फिर रहे हो। आँखें खोलकर भूकम्प-पीड़ित क्रेटा को देखो। जीवन का सत्य मिल जायेगा।

‘जीवन का सत्य?’—कहने लगी रूपरेखा—क्या इस राक्षसी, निर्दयी लीला को तुम जीवन का सत्य कहना चाहते हो भाई साहब? इसे तो जीव-धारी के साथ जीवन का व्यंग कहो, परिहास कहो। सत्य तो यह किसी तरह भी नहीं हो सकता है। क्या यही जीवन का सत्य है कि कापुरुष की तरह सोते हुए जीव को लोहे की जंजीर में जकड़ ले और फिर उस पीस-पीसकर मारें? युद्ध के लिए उसे पुकारे भी नहीं, चेतावनी तक न दे। क्या यही जीवन का सत्य है? नहीं, इसे परिहास कहो, धोखा कहो, नृशंसता कहो; परन्तु सत्य नहीं। जीवन का सत्य है इस राक्षसी प्रकृति से विराम-हीन युद्ध कर उसे जीत लेना और अपनी तलवार को सबल कर में थामे रहना।

‘मैं फिर भी कहूँगा भाभी, तुम्हारी बात समझ नहीं पाता।’

रूपरेखा खिन्न हसी।

‘चलो कमलेश, तुम्हें यहाँ का दृश्य दिखला लाऊँ।’—पृथीश ने कहा।

‘मुझे माफ करो भाई। न मुझे जीवन का सत्य-असत्य देखना है और न कवेदा। मुझे तो रेखा को लेकर आज ही जाना है।’

‘भाभी को लेकर?’

‘हाँ हाँ, इन्हीं को ।’—हँसकर उत्तर दिया कमलेश ने ।

पृथ्वीश को बाहर किसी ने पुकारा । ‘अभी आता हूँ’, कहकर वह निकल गया ।

रूपरेखा नीरव रही । उसका पति उसे घर ले जाने के लिए आया है । उसे जाने एक कैसी खुशी होने लगी ।

‘तैयार हो लो रेखा । मा उनके कुल की बहू को बाहर नहीं रख सकतीं ।’

रूपरेखा का मुँह अपमान से काला पड़ गया । अभी-अभी जिस एक खुशी से वह मस्ताने लग गई थी, निमिष-मात्र में वह क्वेटा ही की तरह उजड़-सी गई । पति उसके लिए दौड़ा नहीं आया है । मा की आज्ञा से आया है, जैसी कि एक दिन मा की आज्ञा पालन की थी, एक कुमारी को सोहागिन बनाकर ।

‘किन्तु मैं अभी नहीं जा सकूँगी ।’

‘नहीं जा सकोगी ?’

‘नहीं । यहाँ का काम अधूरा रखकर मैं कैसे जा सकती हूँ ?’

‘किन्तु मा अपने घर की बहू को बाहर रखना नहीं चाहतीं । तो उनसे क्या कह दूँगा ?’

रूपरेखा उदास हँसी—कह दीजिए उनसे कि उनके घर की बहू घर ही पर लौटेगी । कह दीजिए उनसे कि उन्हीं के इच्छानुसार उनके घर की बहू घर ही कौ बनी रहेगी । इसके लिए उसे चाहे कैसी भी असुविधा भोगनी पड़े, अपनी रुचि, स्वाधीन इच्छा की बलि देनी पड़े ; किन्तु फिर भी वह अपनी प्रतिभा का, शक्ति का खून करती हुई घर की बहू बनी रहेगी, जीवन भर । कह दीजिए उनसे कि यह है उनके घर की बहू का सिद्धान्त । मैं अभी चलती, किन्तु कुछ मरणासन्न रोगी पड़े हैं, जरा-बे अच्छे हो जायें, तो उसी दिन चल दूँगी ।

कमलेश के नेत्र क्रोध-अपमान से प्रदीप्त हो जल उठे; किन्तु उस घर की बहू की बातों में जाने कौन-सा सत्य, कौन-सा रूढ़ वास्तव छिपा पड़ा

था, जिसने कमलेश के क्रोध पर लज्जा का एक पर्दा डाल दिया। वह चुप रह गया।

इतने में आ पहुँचा पृथ्वीश।

कमलेश ने पूछा—पिता का पत्र तो मिल गया है न रेखा ?

‘बाबूजी का ? नहीं मिला। वह अच्छे तो हैं न ?’

‘नहीं मिला ? आश्चर्य की बात है। वह ज्यादा बीमार हैं।’

‘और मुझे खबर तक नहीं।’—रूपरेखा के स्वर में अधीरता थी।

‘मुझे भी विभ्रम है रेखा। शायद तुम्हारा इस तरह चला आना...’
कमलेश चुप हो रहा।

उसके अर्द्धसमाप्त वचन में जो रुढ़ अप्रिय सत्य छिपा रह गया उसको समझ सकने के साथ ही साथ रूपरेखा का मुँह म्लान हो गया। और लज्जा से पृथ्वीश का सिर झुक गया।

पलभर रूपरेखा सहमी। फिर धीरता से बोली—तो परसों तक मैं लौटूँगी, और अभी मैं कुछ दिन तक बाबूजी के पास रहकर उनकी सेवा करूँगी।

‘जरूर।’—कमलेश ने कहा।

‘परसों तक ठहरकर तुम भाभी को लेते जाओ न कमलेश।’—पृथ्वीश ने कहा।

‘यहाँ ? नहीं पृथ्वी। इन दो ही तीन घण्टों में मेरा दम घुट रहा है। कैसी दुर्गन्ध है यहाँ। दूसरी बात, एक मरीज छोड़ आया हूँ। आर्ज लौटना जरूरी है। मैं अभी लौटूँगा।’

पृथ्वीश चुप हो रहा।

‘अभी जाओगे ? भूखे-प्यासे कैसे लौटोगे ? और भोजन कराये बिना मैं भी तो नहीं जान दे सकती हूँ।’—बोली रूपरेखा।

‘मैं रुक नहीं सकता रेखा।’

यद्यपि रेखा की बातें कमलेश को अच्छी लग रही थीं, बहुत अच्छी ; किन्तु फिर भी वह बोला। और उस अच्छी बोलनेवाली की ओर उसने

अतसाईं दृष्टि से देखा ; किन्तु नेत्र तृप्त न हो सके । उस उज्ज्वल रूपशिखा में उसकी दृष्टि म्लान-सी पड़ गई । कमलेश ने मुँह फेर लिया ।

‘किन्तु आपको तो रुकना ही पड़ेगा और रोकेगी बही घर की बहू ।’—
दृढ़ स्वर में बोली रेखा ।

कमलेश हँसा । वह मोढ़े पर बैठ गया—अच्छा तो भाई, जैसी तुम्हारी मर्जी । रोटी बनाओ, मैं बैठा हूँ ।

यद्यपि उस बैठे हुए व्यक्ति न रूपरेखा का नारी-जीवन व्यथ कर दिया था, और शायद उस व्यक्ति के लिए उसके मन में केवल पुञ्जीभूत घृणा, विराग ही शेष बच पाया हो ; फिर भी अपना अनुरोध इस तरह माने जाते देखकर रेखा के मन में उस व्यक्ति के लिए आदर उत्पन्न हुआ—कदाचित् प्रथम बार ही । और उसका नारीत्व गर्व से भर उठा । विशेषकर पृथीश के सामने उसका सम्मान तो इस व्यक्ति ने रख लिया न । चाहे यह मिथ्या हो, क्षणभङ्गुर हो, उस सम्मान का जीवन अस्थायी हो, किन्तु उस छोटे पल में यह मिथ्या ही हो गया उसका अपना ; और उस मिथ्या के गर्व में वह फूली न समाने लगी । इतना तो सत्य है । पृथीश ने विस्मय से कमलेश को देखा । रूपरेखा रोटी बनाने में लगी ।

घर लौटकर कुछ दिनों तक कमलेश पुस्तक में अपने को खो न सका । किन्तु शीघ्र ही वह पुस्तकों में समा-सा गया । रूपरेखा उसके साथ नहीं आई थी । तीन-चार दिन के बाद वह भी पृथीश के साथ अपने नैहर में पहुँच गई, इतना कमलेश ने सुन लिया था और माता को भी लिख दिया था ।

रात प्रायः बारह बजे पुस्तक बन्द कर कमलेश सोने के लिए पलंग पर गया, किन्तु सो न पाया । तार लिये पियून पुकारने लगा । अर्जेंट तार था ।

कमलेश ने कम्पित हाथों से तार खोला । माता की कठिन पीड़ा पढ़कर उसका हृदय धड़कने लगा । वह अस्थिरता से कमरे में टहलने लगा । मा—
उसकी मा, उसके सुख-दुःख की साथिन मा, जाने अच्छी होती हैं या नहीं । वही मा, जिनकी आज्ञा वह बिना विचारे पालन किया करता है । मा-मा, मेरी अम्मा ! कमलेश विक्षिप्त-सा कमरे में विचरण करने लगा । जीवन में ऐसी

चंचलता, व्यथा उसने कभी न उपलब्ध की थी। रात में कोई ट्रेन नहीं थी। सहसा उसे स्मरण हो आया कि मोटर पर वह क्यों न चला जाय ?

कमलेश शीघ्रता से नीचे उतरा। मोटर निकाली और चल दिया। ड्राइवर घर चला गया था। चलते-चलते माली से कह गया—मा बहुत बीमार हैं। नौकरों से कह देना, मैं जा रहा हूँ। उस अकेली रात में मोटर उड़ी-सी चली जाने लगी।

दूसरे दिन धूप फैलते-फैलते कमलेश पहुँच गया। एक आँधी की तरह जब वह मा के सामने गया, तब सत्यभामा अन्तिम श्वास खींच रही थीं। सविता उनके हृदय पर सिर रखे सिसक रही थी।

‘मा, मेरी अम्मा।’ कमलेश ने जोर से पुकारा।

‘मैं चली बेटा।’

‘जाओगी कैसे ? तुम्हें मैं जाने न दूँगा।’—कमलेश माता की गोद से सटकर बैठ गया। सविता खाट पकड़े रोने लगी।

‘मेरी सुरसतिया को देखना। कमला, संसार में वह अकेली है। और मेरे घर की बहू को घर की बहू ही बनाकर रखना।’

‘उनके लिए सोच मत करो। सब अपने को सँभाल लेंगी ! परन्तु अपने इस कमला को किसे सौंपकर जा रही हो मा ? तुम्हारे बिना संसार से मेरा अन्तिम सम्बन्ध भी तो टूट जायेगा।’

सत्यभामा के मुँह पर वेदना की छाया निबिड़ हुई—सब देखकर भी मैं अन्धी बन रही बेटा। आज मैं शान्ति से पृथ्वी से बिदा नहीं ले रही हूँ। अपनी सतिया को मैंने भिखारिन बना दिया और लड़के को विरागी।

गृहिणी चुप रहीं। श्वास लेते उन्हें कष्ट होने लगा। डाक्टर लाने जब कमलेश बाहर जाने लगा तब माता ने इशारे से उसे रोक दिया। मा खुद रुक-रुककर बोलीं—सुन कमला, मुझ-सा तू भी अन्धा न बना रहे। सतिया को...गृहिणी के नेत्र स्थिर हो रहे। उसके बाद कमलेश और सविता माता से लिपटकर रोने लगे।

माता की दाह-क्रिया कर कमलेश घर लौटा तो भूखा-प्यासा पड़ रहा।

दूसरे कमरे में उसी भाँति पड़ रही सविता । वृद्ध गुमास्ता उन दोनों को लेकर संकट में पड़ गया । कह-सुनकर वह हार गया ; किन्तु किसी ने उठने का नाम ही न लिया ।

सन्ध्या तक पड़ोस की स्त्रियाँ फिर से पहुँच गईं । मुश्किल से दोनों ने थोड़ा-थोड़ा शरबत पी लिया ।

परन्तु जैसे-जैसे समय कटता गया, उनका शोक भी उन्हीं के हृदय में समाने लग गया । कई नौकर साथ आये थे ; किन्तु रसोइया एक भी नहीं आया था । गृहिणी स्वयं भोजन पकाती थीं । वह और सविता अपने लिए बना लिया करती थीं । अब सविता अनभ्यस्त हाथों से किसी प्रकार बना लिया करती । उसे सहायता देने जाकर कमलेश अनेक असुविधाओं की सृष्टि कर बैठता । फलस्वरूप दस बजे का भोजन उन्हें दोपहर दो बजे मिलता । अपनी अकर्मण्यता से लजाकर जब सविता कुछ कहने को होती तो हँसकर कमलेश कहता—गोभी का साग कितना अच्छा बना है । जरा चखकर तो देखो । आओ, मेरे पास बैठ जाओ, अकेला मैं कैसे खाऊँ ?

यदि सविता बाद में भोजन करने का आग्रह करती तो उसे जबरन बैठा लेता । कहता—गोभी में मैंने नमक डाला था तभी वह अच्छी बनी है । और आलू तुमने बनाये, इसी से बिगड़ गये ।

बड़ी-बड़ी आँखें निकालकर सविता तब कहती—कैसे भूटे हो तुम । आलू में मसाला तुमने नहीं डाला था ?

‘डाला तो था, इससे क्या ? पानी और नमक तुमने डाला था न ?’

इसी तरह लड़ते-झगड़ते दोनों के दिन कटते । माता के लिए कभी बैठकर दोनों आँसू बहाते ; कभी घूमने निकल जाते । पहाड़ पर चढ़ते वक्त एक दूसरे को हाथ का सहारा देते । इस प्रकार इनका दुःख एक दूसरे में बैठकर हलका-सा हो रहा था । और आश्चर्य तो यह था कि पुस्तक-कीट कमलेश का जी इन तुच्छ आमोद-प्रमोद-कौतुक से और सविता जैसी अपढ़ लड़की के संग से उबता नहीं था, वरन् शान्ति-सन्तोष से भरा रहता ।

जाने एक कैसा आकर्षण, अनोखापन कमलेश को रात-दिन घेरे रहता। शान्ति से चित्त भर उठता। पर लौटने की बात वह भूल जाता।

और सविता ? एक शान्ति-प्रिय पक्षी की तरह वह कमलेश की छाया में दबी रहती। उसके जीवन में जो अनायास ऐसे मनोरम दिन उपस्थित हो गये थे, उससे उसके हृदय में कभी भावना भी न उठती। फिर इनके लिए पहले से वह प्रस्तुत रहती कैसे ? न उसने इन दिनों को भली भाँति उपलब्ध कर पाया, न कुछ। रह गई वह चुप स्वप्न में विभोर, एक सम्मोहिता-सी, सपने में सनी—गहरी सुषुप्ति में अचेतन जड़-सी।

[३५]

उस दिन सविता वैठी बालों को सँभाल रही थी और कुछ दूर पर बैठा कमलेश जलपान कर रहा था।

पड़ोसिन वृद्धा पहुँच गई। सविता ने जल्दी से उठकर आसन बिछा दिया, फिर बाली—नातिन के घर से कब लौटीं मौसी ?

‘पन्द्रह दिन के बाद कलुंही तो लौटी हूँ। सोचा, चलो देख आऊँ। तुम्हारी सास से मेरी पहचान कुल दो दिन की थी। किन्तु उनका ऐसा मीठा स्वभाव था कि बस दो ही दिन में उन्होंने मुझे अपना बना लिया।

सास ? सविता चौंक पड़ी। वह चुप रह गई। कमलेश चुपचाप भोजन करने लगा।

पड़ोसिन ने कमलेश की ओर देखा, फिर बोली—तुम ही कमलेश हो बेटा ? बैठो, बैठो ! प्रणाम करने की जरूरत नहीं। आशीष देती हूँ। सुखी रहो। तुम और बहू दोनों ही अभी लड़के हो। जरा सोच-समझकर गृहस्थी चलाना भैया। अब तो उनके क्रिया-कर्म के दिन भी आ गये। घर लौटकर करोगे या यहीं ?

कमलेश जरा अड़चन में पड़ गया। इस बात को वह अब तक विचार भी न पाया था। पड़ोसिन की बात से उसे स्मरण हो आया कि माता का श्राद्ध करना है।

‘मैं नहीं जानता, जैसा सविता कहे।’—कमलेश ने कहा।

पड़ोसिन स्नेह से हँसी—दोनों में अभी लड़कपन भरा हुआ है। बहू अभी इन बातों को क्या जाने ? रिश्तेदारों से पूछो। जैसा वे कहें, वैसा करो। यहाँ कैसे क्या कर सकोगे ? घर पर चले जाओ। अमीरों के घर का श्राद्ध कहीं ऐसे हुआ है ?

‘कहो सविता, घर लौट चलोगी ?’—कमलेश ने पूछा। पड़ोसिन फिर हँसी—दोनों पागल हैं। अरे भैया, बड़े-सयानों के सामने कहीं नाम लेकर पुकारा जाता है ?

‘नाम लेकर न पुकारूँ, तो मैं इसे क्या कहूँ ?’—कमलेश के स्वर में विस्मय था।

सविता बातों को कुछ समझी-सी। और वह लज्जा से लाल पड़ गई।

वृद्धा खिलखिलाकर हँस पड़ी—बिल्कुल पागल हो। अच्छा भाई, नाम ही लेकर पुकारा करो। आज-कल के लड़के हो तुम लोग। नाम लिये बिना सन्तोष न मिलेगा ; परन्तु बहू, एक बात तो तुम्हें माननी ही पड़ेगी। ऐसे खाली माँग रहना बड़ा कुलक्षण है। कमलेश का इससे अकल्याण होगा। आ, मैं तेरी माँग भर दूँ।

सविता विवर्ण मुख से बैठी ही रह गई। यदि वह पहले जानती कि जीवन में एक ऐसा भी दिन आनेवाला है, तो वह कभी की धरती में समा गई होती। उसे लगने लगा, वह चील-सी उड़कर एकदम बादल में छिप रहे। पसीने से वह डूब गई।

‘तुम कहो कमलेश, कि बहू सेन्दुर से माँग भर ले। तुम उसके पति हो और तुम्हारा कहना वह टाल भी नहीं सकती।’

‘मैं इसका पति नहीं हूँ।’—कमलेश कह उठा।

‘पति नहीं हो ? यह तुम्हारी विवाहित नहीं है ?’—पड़ोसिन के स्वर में आश्चर्य भरी घृणा थी।

उस मूर्त घृणा ने सविता के रोम-रोम में अग्नि-सी जला दी और कमलेश के नेत्रों को धरती तक झुका दिया।

‘नहीं।’—कमलेश ने उत्तर दिया।

इसके बाद पड़ोसिन उठकर खड़ी हो गई। और वैसी ही मौन चली गई। सविता जल्दी से उठकर कमरे में हो गई। अगाध विस्मय लिये केवल बैठा रह गया कमलेश।

दूसरे दिन सबेरे सविता के लाल-लाल नेत्र देख कमलेश ने पूछा—तुम्हें बुरा चढ़ा है सवि ?

सविता ने उसका हाथ जोर से हटा दिया—नहीं-नहीं। तुम मेरे सामने मत आया करो। दुनिया के एक कोने में मुझे पड़ी-भर रहने दो।

कमलेश को उसी प्रकार स्तब्ध, विस्मित छोड़कर सविता चली गई और नौकरों के साथ सामान बाँधने लगी।

थोड़ी देर में कमलेश सविता के निकट पहुँचा। उसने पूछा—क्या घर चल रही हो ?

‘हाँ।’

‘जल्दी क्या है ? अभी तो श्राद्ध के आठ दिन बाकी हैं सविता। परसों तक चले चलेंगे।’

‘किन्तु मैं आज ही जाऊँगी।’—उस हृदय को सुनकर कमलेश हतवाक् हो रहा।

अगत्या कमलेश को भी ट्रेन पर बैठना पड़ा। एक डिब्बे में दोनों बैठे। छोटे बच्चेवाले एक दम्पति उनके साथी थे। पति-पत्नी और एक छोटा बच्चा, बस।

पति ने बड़े आदर से पत्नी के लिए बिस्तर बिछा दिया। फिर बोला—आराम से सो रहो। बैठी-बैठी थक जाओगी। बच्चे को मुझे दे दो।

तृष्णार्त नेत्रों की सवग्रासी लुधा लिये सविता उस ओर देखती ही रह गई।

स्टेशन से लेमनेड लेकर युवक ने पत्नी को दिया—पी लो। पान यह रखे हैं। भूख लगी है ? अगले स्टेशन से मोतीचूर ले लूँगा। वहाँ अच्छे बनते हैं। न वहाँ क्यों ? क्या मैं नहीं जानता कि मोतीचूर तुम्हें अच्छे लगते हैं।

पत्नी बिस्तर पर बैठ गई और घूँघट की आड़ से सविता को देखने लगी।

दीर्घ श्वास हृदय में दबाकर सविता ने मुँह फेर लिया। कमलेश बिस्तर के बगडल से टिका-टिका सिगरेट पीने लगा।

सविता से न किसी ने सोने के लिए अनुरोध किया, न उसका बिस्तर खोला गया।

युवक ने कमलेश से कहा—इस लाइल के डिब्बे कैसे छोटे होते हैं महा-शय ! आप कहाँ जा रहे हैं ?

‘घर।’

युवक की दृष्टि पत्नी पर पड़ गई। वह शीघ्रता से उठा, बेग खोलकर शाल निकाला और उससे अच्छी तरह पत्नी को ढाँककर अपनी जगह आ बैठा। कमलेश से उसने कहा—आपकी पत्नी बहुत दुबली हैं। बीमार थीं ?

‘मेरी स्त्री घर पर है।’

अर्थ-सूचक दृष्टि से सविता को देखकर युवक वक्र हँसी हँसा—यह आपकी स्त्री नहीं है ? अच्छा, अब समझा। दा-चार महीने घूमकर आप दोनों घर लौटते होंगे।

स्टेशन पर गाड़ी रुकी और कमलेश के उत्तर देने से पहले ही युवक उतावली से उतर पड़ा मोतीचूर लेने।

उस वक्र हँसी को देखकर सविता का चित्त विराग, घृणा से कमलेश के प्रति मिमुख हो गया। उसकी पत्नी घर में है सो ठीक है। और वह उसकी कोई नहीं है, यह भी झूठा नहीं है ; किन्तु इस परदेशी के निकट क्या उसी मिथ्या को सत्य बनाकर एक असहाय नारी का सम्मान नहीं रख सकता था ? सविता के मन में प्रश्न के बाद प्रश्न उठने लगे—और उसी मिथ्या के बल पर एक निर्दोष स्त्री को सती कहलाना अच्छा है या सत्य कहकर सती को असती बनाना श्रेष्ठ है ? क्या वह इतना-सा भी मेरे लिए नहीं कह सकते थे ? छिः-छिः, और यही लोग मरते हैं अपने को साधु कहलाने के लिए ? फिर मिथ्या ही क्यों ? क्या वह पत्नी कहकर परिचय नहीं दे सकते थे ? झूठ नहीं, क्या वह सच भी नहीं कह सकते थे कि यह भी मेरी पत्नी है ? न्यायतः, धर्मतः यह भी मेरी पत्नी है, उपपत्नी नहीं।

कापुरुष ! सविता के जी पर एक विराट् बोझ जैसा आ बैठा । जिस भार से उसके मन का सारा सौन्दर्य, प्रेम, मीठापन मथित-ध्वस्त होने लग गया । इसकी खबर संसार से और कदाचित् उससे भी छिपी रह गई ।

साथी को मोतीचूर लेते देख कमलेश को लगा, मैं भी सविता के लिए ले लूँ ।

‘तुम्हारे लिए मोतीचूर ले लूँ सवि रानी ?’—कमलेश ने पूछा ।

‘मेरे लिए किसी चीज की जरूरत नहीं है ।’—सूनी दृष्टि से निहारती सविता बोली ।

‘मुझे सन्देह हो रहा है ? तुम्हारा जी खराब तो नहीं है ?’—विकल स्वर में कमलेश ने पूछा ।

‘बिल्कुल अच्छी हूँ ।’—बाहर देखती हुई सविता बोली ।

कमलेश आकर अपने स्थान पर बैठ गया । सविता उठकर बीच की बेंच पर बैठ गई ।

युवक दोना भर मोतीचूर लेकर लौटा । पति-पत्नी ने भोजन किया । इसके बाद एक सिगरेट सुलगाकर युवक निश्चिन्त होकर बैठा—बिस्तर खोल लीजिए और उनके लिए भी बिछा दीजिए । रात भर बैठे कैसे रहेंगे ?

कमलेश सचेतन हुआ । मुश्किल से खींच-तानकर उसने बिस्तर खोला । दरी-चादर निकालकर वह सविता के निकट खड़ा हो गया—उठो सवि, दरी बिछा दूँ ।

‘जरूरत नहीं है ।’

‘जरूरत नहीं है ? रात भर योंही बैठी रहेगी ?’—अत्यन्त विस्मय से कमलेश ने कहा ।

‘बैठी रहूँगी ।’—ताच्छल्य से वह बोली ।

कमलेश उसके समीप पहुँच गया । कमलेश के हृदय पर एक गहरा विस्मय, गम्भीर वेदना व्याप-सी गई । उस अपनी-सी सविता का, उस निभरशील, भीरु, विनीत सविता का इस तपह् अचानक रुढ़-अविनीत हो जाना उसे ज्ञाने कैसा लगने लगा ।

कमलेश शायद सविता के निकट बैठकर, मधुर-सा कुछ कहना चाहने लगा, शायद उन कोमल हाथों को अपनी गोद में रख लेना चाहने लगा ; किन्तु सहसा उसकी दृष्टि पड़ गई सहयात्री की कौतुकपूर्ण दृष्टि की ओर । वह लौट पड़ा—एक स्कूल में पिट्टे हुए बच्चे-सा । दरी वहीं गिर पड़ी । सविता ने यह कुछ न जाना, जानी केवल कमलेश की अवहेलना ।

‘पड़ी हुई दरी के प्रति सविता ने व्यथा-मलिन नेत्रों से देखा ; फिर देखा पति-सोहागिन वधू की ओर । उसके पति के हाथों से बिछे बिस्तर की ओर देखा । और फिर वह पाये हुए आघातों को धीरे से हृदय में समा लेना चाहने लगी ।

उसी पल घूँघट की आड़ से वधू ने फुसफुसाकर पूछा—‘तुम उनकी पत्नी नहीं हो, तो फिर वह तुम्हारे कौन हैं ?’

यद्यपि उसने धीरे से पूछा था ; किन्तु यह प्रश्न गाड़ी में बैठे हुए व्यक्तियों से छिपा न रहा । सविता के व्यथित मुख पर क्रोध-विस्मय दीप्त हो उठा ।

‘उन्हीं से पूछो ।’—सविता ने भुँभुलाकर कहा ।

‘और तुम नहीं जानतीं ?’—वधू ने फिर पूछा ।

‘जानूँ चाहे न जानूँ, किसी को क्या मतलब ? मैं अपना जानना अपने ही साथ रखना चाहती हूँ ।’—बात पूरी कर सविता खिड़की के बाहर आँखें पसारे बैठी रह गई ।

गाड़ी उड़ती चली जाने लगी । बाहर का अन्धकार गाढ़ हुआ । कमलेश के हाथ का सिगरेट जमीन पर गिर पड़ा । साथी युवक ने दूसरा सिगरेट जलाया और बहू बैठी-बैठी ऊँघने लगी ।

[३६]

‘और यदि मैं मर जाऊँ पूरबी ?’

पूरबी शान्ति से हँसी—‘चार दिन के बुखार से तुम धबरा गये पृथीश बाबू ? ऐसी जल्दी मरने-जीने की बात क्यों कह रहे हो ?’

पूरबी के घर में और उसी के पलङ्ग पर पृथीश पड़ा हुआ था । कोटा से

लौटने के बाद रूपरेखा को उसके नैहर पहुँचा पृथीश अपने घर आकर जो पड़ा, तो फिर कई दिन तक पड़ा ही रह गया।

उस दिन ज्वर से काँपते हुए डाक्टर के पास जाते-जाते ठीक किस लिए पूरवी के द्वार पर गाड़ी उसने रोक दी, यह बतलाना जरा कठिन है।

हार्न सुनकर नौकर दौड़ आये। खबर पाकर पूरवी भी पहुँच गई। और जब उसने सुना कि मिनट भर के लिए भी पृथीश उतरना नहीं चाह रहा है, तो विस्मय से उसने पूछा—इस आने का उद्देश्य क्या है?

‘अस्पताल जा रहा था, सामने तुम्हारा घर पड़ गया, तो रुक गया।’

‘अस्पताल ? किन्तु क्यों ?’

‘बुखार लेकर केटा से लौटा। फिर बुखार में अचेत पड़ा रहा। उठने की हिम्मत न रही। आज किसी तरह जा रहा हूँ।’

‘डाक्टर को घर क्यों न बुला लिया ?’

‘फीस न लगती ?’—उसने हँसकर कहा।

‘क्या तुम कङ्गाल हो ?’—मुसकराती हुई पूरवी ने पूछा।

‘तुम नहीं समझतीं पूरवी ? यदि फीस के रुपये बच जायें तो एक दिन किसी गरीब के काम आ सकेंगे वही रुपये।’

पूरवी ने करुणा से, सम्मान से उस आचार-निष्ठ, ईश्वर पर दृढ़ विश्वासी व्यक्ति को देखा।

‘तो जाऊँ न पूरवी ? सीने में जोर का दर्द हो रहा है।’

‘दर्द हो रहा है ?’—शङ्कित पूरवी गाड़ी पर चढ़ गई, उसके शरीर के उत्ताप को हाथ से देखने लगी। उतावली-सी बोली—बस, अब बात नहीं। जल्दी उतरो। उतरो, उतरो !

‘यहाँ, तुम्हारे घर ?’

‘हाँ-हाँ ! मेरे घर। वहाँ तुम्हारी सेवा कौन करेगा ? डरो मत। परिचित डाक्टर को न बुलाऊँगी।’

इसके बाद पृथीश कब उतरा और फिर क्या हुआ, इसकी खबर स्वयं

पृथीश ही को न रही। जाना उसने इतना कि वेश्या पूरवी दिन-रात उसके सिरहाने बैठ रही है। अब वह कुछ अच्छा था।

उत्तर में पृथीश ने कहा—आदमी का क्या ठिकाना ? मैं अपने धन से गरीबों का पेट भरना चाहता हूँ। विल इस तरह की तैयार करना चाहता हूँ कि जिससे दो-एक बड़े कारखाने खोल लिये जायें और उनमें बेकारों को काम दिया जाये।

‘यदि ऐसी ही इच्छा थी, तो अपनी लम्बी जिन्दगी में वैसा क्यों न कर लिया ?’

‘वक्त नहीं मिला पूरवी। उधर युद्ध में चला गया। लौटा तो कुछ दिन तक इधर-उधर मारा-मारा फिरता रहा। चित्त उचाट रहता था। उसके बाद कुछ दिन स्वराज्य के काम में लग गया। फिर कुछ दिन जेल में रहा। और अब क्वेटा-संकट में फँसा हुआ हूँ। भूकम्प ने बिहार को भी बर्बाद कर दिया। उधर का पूरा न हो पाया कि बीमार पड़ गया।’

‘हानि नहीं। अच्छे होकर कर लेना। क्या अभी फिर क्वेटा जाना है ?’

‘हाँ, किन्तु इस बार शायद भाभी न आयें।’—पृथीश ने इस तरह कहा, मानों अपने आपको सुना रहा हो।

‘भाभी ? तुम्हारे बड़े भाई हैं ?’

‘नहीं, कमलेश की पत्नी मेरी भाभी है।’—रूपरेखा के स्मरण से पृथीश का जी उमड़-सा आया। बेचारी भाभी ! श्रद्धा-सम्मान से हृदय भर उठा। मन में विचारने लगा—यदि मैंने कसूर भी किया तो किस पौरुषता, सहृदयता से बड़ी भावज ही की तरह उन्होंने क्षमा भी कर दिया। इधर मैं गया नहीं। जाने वह क्या सोचें। और यदि वेश्या के घर मेरा आना वह जान लें ? इस चिन्ता से वह अस्थिर होने लगा।

‘क्या वह तुम्हारे साथ गई थीं ?’

पूरवी का विस्मय पृथीश को काँटों-सा गड़ने लगा।

‘हाँ।’

‘कमलेश बाबू तो यहीं थे न ?’

‘भाभी अकेली मेरे साथ गई थीं। यही कहना चाहती हो न ? किन्तु पूरवी, तुम मेरी भाभी को नहीं समझ सकती हो। वेश्या का देवी को समझने जाना परिहास मात्र है।’

अपमान से पूरवी तमतमा उठी ; किन्तु फिर भी रुग्ण अतिथि को छोड़कर वहाँ से हट न सकी। एक विराट् विस्मय लिये पूरवी विचारने लगी कि मनुष्य के प्रति एक ऐसी निविड़ घृणा लिये यह मनुष्य बेकारों की सेवा करने कैसे बैठ गया है ? और उधर पृथीश अपने वर्ताव से अनुत्तम होने लगा।

पूरवी उठकर दवा ले आई। पृथीश ने पीने की चेष्टा तक न की। सेविका के निकट लज्जा से उसका सिर अपने-आप झुक गया।

‘पी लो पृथीश बाबू।’

‘क्या एक बार और मुझे क्षमा कर सकोगी पूरवी ?’

पूरवी पृथीश के निकट बैठ गई। दवा पिलाकर उसने अपने वस्त्र से पृथीश का मुँह पोंछा। फिर बोली—क्षमा किस लिए ? आदमी का मन ही तो है। उसमें जानें कैसी भावनाएँ उठा करती हैं। और मुँह की भाषा कभी उन्हें प्रकाशित कर देती है। बस है इतना ही। तो इसमें तुम्हारा क्या कसूर है ?

‘विश्वास करो पूरवी। इसके पहले कभी मैंने ऐसा नहीं विचारा था। जाने क्यों अचानक आज मेरे मुँह से यह शब्द ऐसे रूढ़, कठोर, असभ्य होकर निकले।’

एक रहस्यमयी हँसी पूरवी के मुँह पर व्याप गई—शायद मन में कभी तुमने अपनी भाभी से वेश्या पूरवी की तुलना की होगी ; और फिर भूल भी गये होंगे। आज अचानक मुँह से वही भावना निकल आई। जब किसी को कोई आन्तरिक घृणा करता है पृथीश बाबू, तो उस घृणा किये जानेवाले के सान्निध्य में आकर कभी वह घृणा प्रकाशित भी हो जाती है। जाने दो उस बात को। सूप लाऊँ ?

‘नहीं-नहीं ! तुम मेरे पास से हटो मत। मुझे विस्मय है। यदि तुम जानती हो कि कोई एक तुम्हें घृणा करता है, तो फिर उसी को सेवा, यत्न, आदर

देकर जिलाने की यह अकलान्त चेष्टा क्यों ? सच पूरबी, मैं विस्मित हूँ ।'—
पूरबी खिन्नता से हँसी ।

‘तुम्हारे इस घृणा करनेवाले को जिलाकर क्या करोगी ? उठो मत; भागो मत । कहो, यह कैसी वृत्ति है ? उसे लेकर तुम करोगी क्या ?’

‘सुनना चाहते हो तुम ?’—पूरबी शान्त होकर बैठ गई ।

‘हाँ-हाँ । सुनने के लिए मैं अधोर हो रहा हूँ ।’

‘स्तव, स्तुति और प्रशंसा सुनते-सुनते मेरा मन जब थक गया, नकली प्रेम पाते-पाते और देते-देते जब कलान्त हो गई, ठुमरी सुनाते-सुनाते और प्रतारणा पाते-पाते जब श्वास मेरी रुकने-सी लग गई तब आये तुम, अनन्त घृणा और ख्याल की सच्ची माँग लेकर मेरे सामने । और तब मेरे उस विमुख, थके हुए मन ने यदि तुमको अपना साथी बना भी लिया हो तो इसमें आश्चर्य की बात कौन-सी है पृथीश बाबू ?’

सम्मोहित-सा पृथीश उसकी बातें सुनने लगा, और सुनते-सुनते जाने कब सो रहा ।

धीरे-धीरे पृथीश स्वस्थ हो उठा । चलने-फिरने लगा । कुछ कमजोरी रही । पूरबी उसके साथ-साथ रहती । कभी उसे गाने सुनाती और सप्ताह में एक दिन कहीं क्षण-भर के लिए चली जाती । पृष्ठकर पृथीश ने जान लिया था कि वह सप्ताह में एक दिन अपने भिखारी पिता से मिलने जाया करती है ।

उस दिन पूरबी पृथीश को गाना सुना रही थी । पृथीश गलीचे पर अध-लेटा पड़ा हुआ था, बिल्कुल उसके पास । देख रहा था वह पूरबी को । देखते-देखते उसके नेत्र विस्फारित हो रहे । कई वेश्याओं को उसने देखा था; किन्तु वेश्या के मुँह में ऐसी क्लिष्ट हँसी उसने कभी न देखी थी ।

‘जरा-सी और हँसो पूरबी । तुम्हारी यह क्लिष्ट हँसी मेरे मन में बस रही है । इस हँसी को देख-देखकर जो नहीं भरता । हँसो पूरबी, वैसी ही हँसी ।

पूरबी मुसकराई—किन्तु दशसेवक का अचानक कवि बन बैठना खतरे से खाली नहीं है पृथीश बाबू ।

‘खतरा ? कैसा खतरा पूरबी ?’

पूरवी खिलखिला पड़ी।

नौकर दौड़ता हुआ आया। बोला—राजा साहब की गाड़ी दरबाजे पर खड़ी है।

‘कह दो, जी खराब है।’ अवहेलना से पूरवी ने कहा।

पृथीश ने कहा—उन्हें रोक लो न पूरवी। देख रहा हूँ, मेरे आने से तुमने मुजरा-उजरा सब छोड़ दिया है। जाने कितना नुकसान तुम्हें पहुँचे।

‘कुछ भी नहीं। धन कुछ जोड़ लिया है। उससे मेरी बहनों को, उनके बच्चों को मोटा चावल मिल जाया करेगा। और फिर वे वेश्या का ज्यादा धन लेकर करेंगे ही क्या! लड़के लिख-पढ़कर बड़े हो जायें, खुद कमा लेंगे। रहे पिता और मैं। सो हम दोनों के पेट को सूखी रोटी मिल ही जायेगी।’

कुछ विचारकर संकोच के साथ पृथीश ने कहा—मैं तुम्हें अपमानित करना नहीं चाहता पूरवी। न तुम्हारे लिए कहता हूँ। मैं हृदय से कह रहा हूँ कि उन बच्चों के लिए यदि कुछ देना चाहूँ तो तुम अस्वीकार तो न करोगी?

पूरवी का मुँह विवर्ण हो गया—क्या मेरे जीवन के इन थोड़े दिनों की पूजा को, इस खुशी, शान्ति सन्तोष को तुम रुपयों के बल खरीदना चाहते हो?...

‘पूरवी...’

‘बस, चुप रहो। इस सेवा से, सप्ताह-भर के इस गृहिणीत्व से मेरे अन्तर की सेविका लुधार्त नारी किस तरह वृत्त हो गई है, उसे तुम क्या सकभोगे? यदि समझते तो ऐसा कहते ही क्यों? वेश्या यदि अपनी वेश्या-वृत्ति ही में सन्तुष्ट रह सकती तो यह दुःख ही काहे को था पृथीश बाबू।’

पृथीश उठकर बैठ गया। दृष्टि गड़ाकर वह पूरवी को देखने लगा और देखते-देखते उसे अपने निकट खींच लिया—अपमानित तुम्हें मैं बहुत कर चुका हूँ पूरवी। अब देना चाहता हूँ सम्मान। क्या तुम उसे स्वीकार करोगी?

‘सम्मान? पूरवी वेश्या का सम्मान? चलते वक्त भी तुम परिहास देकर ही जाओगे पृथीश बाबू?’

‘नहीं पूरवी । पूरवी को मैं सहधर्मिणी बनाकर अपने पाप का प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ ।’

पूरवी एक दम अवाकू हो रही । जब वह बोल सकी तो पूछा उसने—सच कहते हो ?

‘हाँ पूरवी ।’

पूरवी रोमाञ्जित हो गई ।

थोड़ी देर बाद पूरवी जोर से हँस उठी—यह भी एक परिहास है और बड़ा भयानक परिहास है पृथीश बाबू ।

‘परिहास नहीं है पूरवी । तुम्हें मैं कैसे विश्वास दिलाऊँ कि मैं सच कह रहा हूँ । परिहास नहीं । कैसे कहूँ कि तुम्हारी जरूरत आज मुझे पड़ गई है ।’

‘मैं ऐसा नहीं कहती कि तुम परिहास कर रहे हो । यह परिहास है जीवन का ! नहीं कैसे ? पूरवी वेश्या के दरवाजे जब पत्नीत्व की पुकार पहुँची, तब उसके अन्तर की महिमामयी माता वेश्या बन चुकी थी ; फिर यह परिहास नहीं तो क्या है ?’

पृथीश मुग्ध विस्मय से उसे निहारने लगा । पूरवी जरा हटकर बैठ गई—गाना सुनःऊँ ?

‘नहीं । मैं तो तुम्हें पाना चाहता हूँ पूरवी ।’

पूरवी ने उसे स्नेह से देखा—मुझे माफ करो । असम्भव के पीछे दौड़ने से कोई लाभ नहीं । मैंने जीवन में चाहा है, केवल तुम्हें । शायद वह प्रेम निष्कपट हो । और फिर वेश्या-हृदय की वार्ता कौन जाने । किन्तु उस प्रेम को वेश्या का बनाकर बाज़ार में बेचना नहीं चाहती, इतना तो ठीक है । शायद आज के बाद तुम मेरे घर नहीं आओगे । शायद अब तुमसे भेंट भी न होगी ; किन्तु नहीं, अब तुम सो रहो । मुझे भी नींद आ रही है ।

पूरवी उठकर चली गई ।

दूसरे दिन उदास मुँह पृथीश घर लौट आया ।

[३७]

‘फिर इतना तो कहना ही पड़ेना नायबजी, कि इस घर की गृहिणी के आदर में कंगालों को भोजन कराना एक जरूरी बात है।’

वृद्ध नायब और रूपरेखा में बातें हो रही थीं।

‘रुपये बहुत खचे हो जायेंगे। बाबू आ जायें, उनसे पूछकर करो।’

‘परन्तु वहाँ से लौटकर आपही ने तो कहा था न कि मरते वक्त मा इस घर का सम्मान मुझी पर सौंप गई हैं ? कहा था न आपने ?’

रूपरेखा अस्वस्थ पिता को छोड़कर ससुराल चली आई थी। जब नायबजी ने उसके नैहर में जाकर कहा कि मृत्यु के समय सत्यभामा घर का मान-सम्मान घर की बहू रूपरेखा को सौंप गई हैं तो रूपरेखा पल भर के लिए स्तब्ध रह गई। जिस सत्यभामा ने उसके नारी-जीवन को व्यर्थ कर दिया वही सत्यभामा उसे मरते वक्त भी छुटकारा नहीं दे गई ?

पल भर के लिए रूपरेखा ने द्विधा की। उस स्त्री के इस बन्धन को क्या वह फिर भी बिना विचारे स्वीकार कर ले ; किन्तु दूसरे पल वह सहमकर चलने के लिए तैयार हो गई। वह तनकर खड़ी हो गई—इस दान को, इस बोझ को वह पृथ्वी की एक नारी होकर अस्वीकार क्यों करे ? इससे डरे क्यों ! वह ढोयेगी और एक वीर की तरह इस बोझ को ढोयेगी। सब बातें सुनकर उसके पिता ने उसे जाने के लिए अनुमति दे दी। और तब रूपरेखा ससुराल पहुँच गई।

उत्तर में नायब ने कहा—कमलेश भैया को और मुझे बुलाकर उन्होंने यही बातें कही थीं ; परन्तु इतने पैसे खर्च करते समय उनसे पूछना जरूरी है।

‘कोई जरूरत नहीं है। मैं कहती हूँ, आप जाकर कंगाल-भोजन की व्यवस्था करें। और चार सौ कपड़े भी मँगवा लें।’—संयत स्वर से रूपरेखा ने कहा।

और उसी पल सविता के साथ कमलेश ने कमरे में प्रवेश किया। रूपरेखा की बातें उन दोनों ने सुन ली थीं।

फिर भी नायबजी को इतस्ततः करते देखकर रूपरेखा ने कहा—खड़े

रहने से काम न चलेगा नायब जी। छः दिन कुल बचे हैं। आप जाकर व्यवस्था करें।

इसके बाद वह कमलेश की ओर मुड़ी—आप आ गये! अच्छा हुआ। अकेली मैं घबरा रही थी। सविता बहन, जाकर नहा लो। चाय अभी भेजती हूँ।

इस रन्ध्रहीन आधिपत्य और असङ्कोच आज्ञा को देख-सुनकर सविता चकित रह गई।

‘जल्दी क्या है? आज सब ठीक कर लूँगा। भैया आ गये हैं। आराम कर लें, तो एक बार वह भी लिस्ट देख लें। जैसा वह कहें वैसा किया जायेगा?’—नायब ने कहा।

‘मुझे दिखलाने की जरूरत नहीं है नायबजी, जैसा यह कहें, वैसा ही करो। घर की मालकिन यह हैं। जैसा चाहें, करें।’

उत्तर सुनकर नायब चकित रह गया। सविता जल्दी से भीतर हो गई। रूपरेखा के मुख-भाव में कोई परिवर्तन न हुआ।

अन्तःपुर में प्रवेश कर सविता विमूढ़ रह गई। चहुँओर एक विराट् परिवर्तन था, और थी नियम की शृङ्खला। घर का कोना-कोना एक कमिष्ठ हाथ का स्पर्श या परिष्कृत, परिच्छिन्न, दर्शनीय हो रहा था। सबेरे उठकर रात दस बजे तक घर की कमिष्ठा वधू पूरे घर की सुध लेती फिरती। रसोई के प्रबन्ध से लेकर लायब्रेरी तक में उसके सुचारु हाथ के स्पर्श नित्य पड़ा करते। पति के कमरे को वह स्वयं झाड़ती-पोंछती। जमींदारी के बही-खाते वह स्वयं देखती। श्राद्ध का सामान एकचित्त हो करवाती। दवाखाने की दवाइयों की लिस्ट वह स्वयं बनवाती। कम्पाउण्डर से नित्य हिसाब लेती। घर के छोटे-बड़ों की सुविधा-असुविधा उसकी दृष्टि से कुछ न बच पाती।

रूपरेखा के हाथ में घर-गृहस्थी सौंपकर, वरन् यों कि पत्नी के कमिष्ठ हाथों की आड़ में दबा कमलेश आराम से पुस्तकों में डूब-सा गया। माता के बिना गृहस्थी सँभालने की जो एक भीतिप्रद शंका उसके मन में थी, वह

बिलकुल जाती रही। मानों पाले में ठिठुरे पक्षी को सूय की किरणों मिल गई हों और उस किरण में उसके मृतप्राय पल्लव पुनः सजीव हो गये हों।

कमलेश के कहने से पहले घर की बहू प्रयोजनीय सामग्री सामने धर देती। ओने-कोने से किताबों को निकाल टेबल पर सजा देती। कम्पाउंडर को डॉट-फटकारकर खाली दवा की बोतलें भरवा देती। अपने ग्रामों की लाभ-हानि पर सतर्क दृष्टि रखती। ग्वाला दूध में पानी मिलाने न पाता, बनी हुई रसोई पर मक्खी बैठने न पाती, दरजी कपड़े न चुरा पाता, बासी शाक-भाजी घर में आने न पाती। और यह सब देख-सुनकर कमलेश के हृदय पर दबा हुआ भारी बोझ उतर जाता। निश्चिन्त हो आराम से वह पुस्तकें पढ़ता; किन्तु इतने पर भी वह पत्नी को निकट से देख न सकता। उस विपुल शिखा के रूप के सामने उसके नेत्र-पल्लव झुनस जाते। दृष्टि को वृप्ति न मिलती। शीघ्रता से नेत्र फेर लेता। जाने कैसे एक अभाव, एक सूनेपन से चित्त भोराक्रान्त रहता।

कभी कमलेश का चित्त अतीत की ओर लौट पड़ता। जाने एक कैसी गम्भीर व्यथा से चित्त व्यथित हो जाता। एक निर्भरशील लता उसके शरीर से लिपट-सी जाती और तब कमलेश के अनजान में गहरा दीर्घ श्वास निकल पड़ता। जल्दी से वह पुस्तक खोल लेता। इस प्रकार उसके दिन कटते। उधर रूपरेखा अपनी चाल में मस्त रहती, जिसकी आड़ में दबी सविता अपने लुटे हुए घर को गहरी व्यथा से देखा करती।

दिन चढ़ चुका था। काम करते-करते रूपरेखा चली गई सविता के निकट। रूपरेखा ने सविता से कहा—जानती थी कि कहे बिना तुम स्नान-भोजन कब कर सकती हो? अरी बहन, जरा दिन की ओर तो ताक। ग्यारह बज रहे हैं। अब भी कमजोर हो तुम। जरा जल्दी नहा-खा लिया करो। इधर घर-गृहस्थी, उधर श्राद्ध का आयोजन। यदि मैं भूल जाऊँ, तो तुम खुद ही जरा जल्दी कर लिया करो।

सविता स्नान करने गई जरूर; किन्तु स्नानागार में जाकर वह चुप

खड़ी रह गई। इस लुट्टी हुई सूनी गृहस्थी में उसकी साँस रुकने-सी लगी। उसकी अपनी गृहस्थी में वह पराई बनकर कैसे रहे ?

दरवाजे पर किसी ने धक्का दिया। किसी प्रकार दो लोटा पानी सिर पर डालकर सविता ने वस्त्र बदले और निकल आई। भीगे बालों को सिर में लपेटे वह दालान की धूप में आ खड़ी हुई। पूर्व की नाई आज कोई दासी उसके बाल पोंछने गमछा लिये दौड़ी न आई। न वह परिचित स्नेह-अनुयोग कहीं से आया कि—अरी सतिया, यहाँ चली आ। बाल पोंछ दूँ। देख रहा है न कमला, इस पराये की लड़की ने तो मेरा नाकों दम कर दिया। न कहीं से किसी ने कहा—लड़की बेचारी को क्यों तड़कता है कमला ? और न कोई उसके गीले बालों के जूड़े को खोलकर भागने ही लगा।

दास-दासी कितनी ही बार उसके सामने से निकल गये, किसी ने लौटकर उसे देखा तक नहीं। किसी तरह सविता ने बाल पोंछे। उदास दृष्टि नीची किये वह चौके की ओर चली।

चलते-चलते अचानक उसको गति ठाकुरजी के घर के सामने रुक गई। बूढ़ा पुजारी पहले ही-सा बैठा पूजा कर रहा था। सुवर्ण-सिंहासन पर श्रीकृष्ण खड़े वैसे ही मुरली बजा रहे थे। राधिका वैसे ही सखियों के साथ बैठी थीं। उसके हाथ के बनाये रेशम के तकिये, गद्दे, भालर आदि में कहीं कुछ परिवर्तन नहीं था। सविता हृदय में संतुष्ट हुई है। अब भी इस लुटे हुए घर में उसका अपना कहने के लिए एक स्थान बचा हुआ है। यहाँ तक घर की बहू का हाथ पहुँच नहीं पाया। सविता के पैर उसी स्थान पर जम-से गये। रसोइया भात परसकर उसे पुकारने लगा। और सविता ? किन्तु वह अपने निजी स्थान को छोड़कर जाती कैसे ? इतना बड़ा घर जब पराया होने को बैठा, तो पराया होते-होते भी उसका अपना एक निजी स्थान बच ही गया।

पुजारी ने मुड़कर देखा—कौन है, सरस्वती ? चली आओ बेटी।

सविता ने अधीर गति से प्रवेश किया।

‘आ गईं तुम बेटी ? मेरी जान बची। इतना सब मैं अकेला कहीं सँभाल

सकता हूँ ? तब माजी थीं, तुम पूजा की सामग्री ठीक कर देती थीं। अकेला घबरा गया।'।

‘अब क्या अकेले सब कर लेते हो बाबा ?’

‘और नहीं तो कौन करे ? इस कमरे में तुम, हम और माजी के सिवा चौथा आ ही कौन सकता है ? दुलहिन बेचारी बाहर खड़ी कभी पूछ लेती हैं। माजी ने उनको यहाँ आने से मना कर दिया था। चलो, अब तुम आ गइ। अपना काम सँभालो। मुझसे इतना नहीं होता। देखो न, वे फूल पड़े सूख रहे हैं।’

सविता ने उत्कण्ठा से सब बातें सुनीं। वरन् उसका रोम-रोम ही उन बातों को निगलने-सा लग गया। सविता बैठकर निविष्ट चित्त से माला गूँथने लगी।

कार्यवश रूपरेखा वहाँ से निकली। भाँककर देखा। पल भर के लिए खड़ी हो गई—यहाँ पहुँच गईं सविता, चलो छुट्टी मिली। सच मानो बहन ? बस ठाकुरजी की सेवा के लिए ही मैं घबरा रही थी। आज मैं इधर से निश्चिन्त हुई। जिसका काम था, उसने अपने हाथों उठा लिया, मैं बची। खा चुकी सविता ?

सविता हँसी—खा-पीकर कहीं कोई ठाकुरजी का काम करता भी है ?

‘नहीं किया जाता ?’

सिर हिलाते-हिलाते सविता कहने लगी—नहीं, नहीं। तुम नहीं जानती थीं ?

‘मैं ? बिलकुल नहीं बहन। अच्छा तो आज जरा जल्दी करना। बारह बज रहे हैं।’

‘अच्छा।’—कहकर सविता अपना काम करने लगी।

अवज्ञा से रूपरेखा ने कमरे के भीतर देखा ; फिर वहाँ से चल दी।

पूजा शेष कर ब्राह्मण चला गया। सविता ने भीतर से दरवाजा बन्द कर लिया और दोनों नेत्रों की बुभुक्षित दृष्टि से ठाकुरजी को देखने लगी। देखते-देखते उसकी आँखों में सावन की-सी झड़ी लग गई। दर के बाद

सविता ने आँखें पोंछीं। द्विधाहीन चित्त से ठाकुरजी को उठाकर उसने हृदय से लगा लिया।

गृहिणी का श्राद्ध अत्यन्त समारोह से हो गया। कंगाली भोजन एक देखने की वस्तु थी। प्रत्येक को भर पेट भोजन और वस्त्र दिये गये। दश-भुजा-सी अकेली रूपरेखा ने काम किया। पृथीश भी आकर जुट गया था। सविता दूर खड़ी आगन्तुका-सी देखती रह गई।

[३८]

वैशाख-द्विप्रहर के तनु में तप्त सूर्य की तीक्ष्ण ऊष्मा भर गई थी। अखिल ब्रह्माण्ड में मानों आग लगी हुई थी। कमलेश के घर के सब लोग खस की टट्टी और पंखों के नीचे आराम कर रहे थे। केवल घर की निरलस वधू रूपरेखा, वैशाख की द्विप्रहर-सी ज्वालामयी, तप्त सूर्य-सी प्रदीप्त दालान में बैठी ग्राम के बही-खाते देख रही थी।

इस वर्ष उपज न होने के कारण अधिक हानि पहुँची थी। और घर से एक भारी रकम निकालकर जमींदारी की लगान चुकानी पड़ी थी।

रूपरेखा ने घर का खर्च बहुत कम कर दिया था और करती ही चली जाती थी। कमरे के भीतर से रूपरेखा की मा-बहनें उसे पुकार रही थीं—चली आ रूप ! तू लपट में मत बैठ। बीमार पड़ जायेगी।

किन्तु जब वह न मानी, तो मा-बहन आकर उसके निकट बैठ गईं।

गृहिणी के श्राद्ध के समय रूपरेखा की मा-बहनें आई हुई थीं। रूपरेखा ने उन्हें कुछ दिनों के लिए रोक लिया।

लड़की का आधिपत्य देखकर वे सब फूँची न समातीं। लड़की का ऐसा सुख, ऐश्वर्य देखकर पित्रालय के सब लोग सुखी हुए।

‘भीतर चल रूप, वहीं बैठकर काम कर लेना।’—मा ने कहा।

‘तीन बजे नायबजी आयेंगे मा। वह आते ही होंगे।’—रूपरेखा ने कहा।

‘क्या जमाई यह सब नहीं देखते?’

‘वे जमींदारी का काम कुछ भी नहीं समझते।’

बहन खिलखिला पड़ी—दो दिन में मैंने जीजा को अच्छी तरह से समझ लिया है मा। सिवा किताब पढ़ने के और कुछ उनसे बनता भी है ?

‘क्यों बकती है ?’—मा ने कहा।

‘पूछो न दीदी ही से। दीदी के बिना उनका मिनिट-भर भी कटना मुश्किल है। कल मैं देख रही थी। जीजा आधा पेट खाकर उठने को हुए, दीदी पहुँच गईं। डाँटा जीजी ने। जब यह सामने बैठीं, तब कहीं उन्होंने भोजन किया।’

‘ऐसा ! तभी तो मेरी रूप घर आना नहीं चाहती। सब काम तो उसी के माथे पर है न।’—माता प्रसन्न हँसी हँसने लगीं।

बहन फिर हँसी—जब जीजा जाने दें तब न। उनका तो पल भर भी जीजी के बिना नहीं चल सकता। कल मैंने देखा, जीजा घर भर में किसी को ढूँढ़ते फिर...

बीच में मा ने टोक दिया—ईश्वर दोनों के सदा यों ही एक प्राण बनाये रहें। शर्म काहे की रूप ? मुँह उठाओ। बस, इतना देखने के लिए ही तो मैं आई थी।

और रूपरेखा ? उसने जो सिर नीचा किया तो फिर उन दो स्त्रियों की ओर देखा तक नहीं।

इस मिथ्या गर्व को लेकर वह दुनिया के सामने कब तक खेलती रहे ? अरे, कब तक ? कब तक ? वह तो रूपरेखा होकर दुनिया में आई है और रहना चाहती है अपने इसी परिचय के बल पर। किन्तु दुनिया क्यों उसके उस परिचय से सन्तुष्ट नहीं होती ? सत्य प्रकाश का छाटा मुहूर्त जब उपस्थित हो जाता है, तो क्यों उसे उसी मिथ्या में सानने लगती है ? विचार चली रूपरेखा : अपने वास्तविक रूप को लेकर जब वह असीम साहस, विपुल स्पर्धा लेकर कंटा में गई, तब फिर क्यों और किस लिए मिथ्या का सुवर्ण-पिंजर दिखलाकर उसे उसी पिंजड़े में बन्द कर लिया गया ? क्यों उसे घर की बहू के आसन पर बैठाकर जीवन व्यापी मिथ्या के खेल में आबद्ध

किया गया ? और आज जब वह सत्य प्रकाशित करना चाहने लगी तो क्यों उसे उसी मिथ्या ही का गर्वमुकुट पहनाया जा रहा है ?

नायब आकर बैठ गया। कहा—ऐसी धूप में क्यों बैठी हो बहू ? कमरे में पंखे के नीचे क्यों नहीं बैठी ?

‘यों ही बैठ गई। बही-खाते देख चुकी हूँ। सबेरे आप क्या कहने को थे ?’—रेखा तब सँभल चुकी थी।

नायबजी ने कुछ इतस्ततः कर कहा—शिवजी की मूर्ति तो बनकर तैयार हो गई, अब सविता का कहना है कि उनके गहने हीरे-मोती के होने चाहिए। और सोने का सिंहासन, वैसा ही मन्दिर, और जरा अच्छी तरह से शिव-दुर्गा की प्रतिष्ठा। मन्दिर की नींव तो मैंने बगीचे के पूर्व में डलवा ही दी है। अब दो-तीन हजार का खर्च और है। सो वही तुमसे पूछ रहा हूँ।

‘नींव भी पड़ गई ? आपने तो मुझसे पूछा नहीं।’

‘देवता का काम है और सविता की एकान्त इच्छा...’

‘क्या शिव-दुर्गा की मूर्ति ठाकुर-घर में रखी जा सकती है ?’

‘नहीं। उनके लिए अलग मन्दिर चाहिए।’

‘आप जानते हैं कि आय से व्यय ज्यादा हो रहा है। और इस तरह यदि ईंट-पत्थर के लिए रुपये लुटाये जायें तो मैं कह सकती हूँ कि इस घर का सम्मान बच नहीं सकेगा। जाइए, आप सविता से कह दीजिए, यह सब कुछ न हो सकेगा। मूर्तियाँ ठाकुर-घर में रखी जायें। बस, मूर्ति बनाने में कितना खर्च पड़ा ? एक हजार ? अच्छा। और सुनिए। आगे से मुझे पूछे बिना कुछ भी खर्च न किया जाये।’

‘परन्तु सविता का कहना आज तक इस घर में टाला नहीं गया, और न शयं कमलेश उसे टाल सकते हैं।’

अपमान से रूपरेखा का मुँह विवर्ण हो गया—परन्तु मुझे टालना पड़ रहा है नायबजी।

इसके बाद सविता बुलाई गई। रूपरेखा ने कहा—यह सब पागलपन

छोड़ दो बहन ! ऐसे फिजूल कामों में यदि रुपये उड़ाये जायें, तो वर्ष भर में घर बैठ जायेगा । शिवमूर्ति ठाकुर-घर में रखवा लो, समझी ? और सिंहासन आदि कुछ नहीं बन सकेगा, समझ गई न ?

सिर नीचा किये सविता खंभे की आड़ में खड़ी रह गई ।

हाथ-मुँह धोने के लिए कमलेश भीतर पहुँच गया ।

‘जरा ठहरो कमलेश भैया ।’—पुकारकर नायब ने कहा । कमलेश खड़ा हो गया ।

‘क्या अब सविता की कोई भी माँग, कोई भी इच्छा इस घर में पूरी न होगी !’ नायब ने पूछा ।

‘कैसी माँग ?’—विस्मय से कमलेश ने जिज्ञासा की ।

ठाकुर-प्रतिष्ठा, मन्दिर आदि की सब बातें नायब ने कह सुनाई ।

‘तो इसमें अड़चन क्या है ?’—कमलेश ने कहा ।

‘बहूजी इतना खर्च करना नहीं चाहती हैं ।’

कमलेश ने सिर झुका लिया ।

‘क्यों भैया, क्या सविता की माँग पूरी न होगी ?’—देर के बाद नायब ने फिर प्रश्न किया ।

‘यदि घर की बहू खर्च करना न चाहें, तो मैं क्या कर सकता हूँ नायबजी ?’

‘तुम कुछ नहीं कर सकते ?’

‘नहीं ।’

कमलेश चल पड़ा ।

रूपरेखा की मा ने विजित गर्व से कन्या के प्रति देखा । रूपरेखा मनोयोग से हिसाब देखनी लगी । और सविता आँसू रोकती हुई वहाँ से भाग निकली ।

पलायनरता सविता को अवहेलना से रूपरेखा ने एक बार देखा ; फिर अपना काम करने लगी । सविता ने ठाकुर-घर में जाकर द्वार रुद्ध कर दिये । पहले वह फूट-फूटकर रोई और फिर धीरे-धीरे उसका सूना मन विपुल आनन्द, वृत्ति से भर उठने लगा और भरता ही चला गया ।

सन्ध्या की अँधेरी में सविता बगीचे में चली गई । शीतल सान्ध्य

पवन बह रहा था। कदम्ब की डाल पर बुलबुल मीठे स्वर से बोल रही थी। गुलाब की पँखुड़ियों की रंगत लाल हो रही थी और पुष्पित वृक्षों पर डालों में बैठे लाल, नील, पीत पंखी मीठी हँसी हँस रहे थे। परियों का झुण्ड किलकारियाँ करने में लगा था।

सविता ने किसी आर न देखा। सीधी चली गई मन्दिर की नींव तक। शिव-दुर्गा की मूर्ति कटहल के वृक्ष तले रखी हुई थी। सविता ने जाने कितनी बार साड़ी के आँचल से उन संगमरमर की मूर्तियों को झाड़ा-पोछा। फिर प्रस्फुटित ज्योत्स्ना में बैठी तन्मय होकर मूर्तियों को देखने लगी। देखते-देखते उसका जी खुशी से भर उठा। स्थिर, वृष नेत्रों से वह देखने लगी।

और शायद रात भर वह इसी तरह देखती रह जाती यदि चिर परिचित स्वर से कमलेश न पुकारता—सवि रानी।

सविता न चौंकी, न अशान्त हुई। शान्त दृष्टि से उसने कमलेश को देखा, बोली—हाँ।

‘यही मूर्ति बनी है रानी?’—सविता के निकट उसी पत्थर पर बैठ गया कमलेश।

‘मूर्ति नहीं; शिव-दुर्गा कहो।’—उस स्वर में न तो विरक्ति थी, न असन्तोष। थी एक विमल खुशी और शान्ति।

‘अच्छा भाई, ऐसा ही कहूँगा। तो शिवजी और दुर्गा ठकुरानी कहना पड़ेगा?’

‘ठाकुरजी से हँसी? चलो—जाओ यहाँ से।’—सविता झुंझला रही थी।

‘और अगर न गया?’

मा, बहन और पृथ्वीश के साथ घर की बहू रूपरेखा बगीचे में टहलती हुई उधर निकली और कदम्ब की आड़ में उन दोनों के मुँह की हँसी देख-सुनकर व्यङ्ग्य से जरा हँसी। चलते-चलते पृथ्वीश लौट पड़ा। घृणा से उसका मुँह काला पड़ गया। बहन-मा स्तम्भित रह गई।

मा ने पूछा—रात के एकान्त में, जमाई के पास बैठनेवाली यह लड़की जमाई की कौन लगती है रूप?

रूपरेखा की बात सविता और कमलेश के कानों तक पहुँच गई। विस्मित, लुब्ध कमलेश चुप बैठा रह गया। उस प्रश्न में छिपा हुआ गूढ़ रहस्य कदाचित् उसने समझा या न समझा। और सविता ? न वह घबराई, न लज्जित हुई, और न अपमान से उसका सुन्दर चेहरा ही परिवर्तित हुआ। वह शिवजी पर दृष्टि निबद्ध किये मृदु-मृदु हँसने लगी।

कन्या से उत्तर न पाकर मा ने पृथीश से पूछा—कहो बेटा, पृथीश्वर, बात क्या है ?

‘दुनिया में ऐसी कई बातें रहती हैं अम्माजी, जिन्हें न सुनना ही अच्छा होता है।’

‘नादान नहीं हूँ बेटा, मैं भी कुछ-कुछ समझती हूँ। घर पर रहते वक्त मैंने इस बारे में बहुत कुछ सुन लिया था। आज निस्सन्देह हो गई। मुझे आश्चर्य है, समाज के हृदय पर बैठकर ऐसा व्यभिचार ! न शासन है, न कुछ।’

‘यही तो मजा है अम्मा।’—चलते-चलते पृथीश ने कहा।

‘वही देख रही हूँ पृथीश्वर।’

‘भाभी, सिनेमा चलना है न ?’

‘चलो। मा को भी दिखला लायें। अब तुम बिल्कुल अच्छे हो न भाई साहब ?’

‘हाँ भाभी।’

‘ऐसे बीमार थे ; किन्तु यहाँ किसी से न कहा। तुम हमें भी पराया समझते हो पृथीश बाबू ?’

‘ऐसा नहीं भाभी। वह बात ही ऐसी हो गई कि तुम्हें खबर न दे सका। और शायद वहाँ पर तुम जाती भी नहीं।’

‘न जाती ? किन्तु क्यों ?’

‘मैं घर पर नहीं था।’

‘तो कहाँ थे ?’

‘पूरवी बाई के घर।’

‘वेश्या पूरवी ?’—घृणा से मा-बहन ने मुँह फेर लिया।

‘वेश्या होने ही से उसे घृणा करना पड़ेगा, ऐसी कोई बात नहीं है। यदि मैं जान पाती तो शायद वहाँ जाती।’—शान्त स्वर से रेखा ने कहा।

‘तुम जातीं भाभी?’—अटल विस्मय से पृथीश ने पूछा।

‘कह नहीं सकती। शायद जाती।’

‘वेश्या के घर आप थे?’—बहन ने पूछा।

‘था बहन, पूरवी में मैंने जो कुछ पाया, जो कुछ देखा, सुना’...पृथीश चुप हो रहा।

‘कहो भाई साहब।’

‘कहूँ? तुम विस्मित होगी भाभी, मैंने उसे अपनी जीवन-संगिनी बनाना चाहा था, किन्तु उसने इनकार कर दिया।’

रूपरेखा के नेत्रों पर विस्मय की घनी छाया पड़ गई। वह चुप हो रही।

बहन हँसी—भला वह वेश्या घर-गृहस्थित बनकर आपके साथ कैसे रह सकती थी? सो उसने इनकार कर दिया। वेश्या कहीं अपने पेशे को छोड़ भी सकी है?

‘भूल कर रही हो बहन। मुझ-सा वेश्याद्वेषी शायद ही कोई रहा हो। पूरवी को समझना सहज नहीं है। मुझे सन्देह है, शायद मैं भी उसे अब तक ठीक से समझ न सका हूँ।’

इसके बाद किसी ने भी उत्त-प्रत्युत्तर की चेष्टा मात्र न की। वे सब अन्तःपुर की ओर चले गये।

[३९]

‘कहाँ जाते हो कमल भैया! दो मिनट ठहरो। मेरी बात थोड़ी-सी है।’—लायब्रेरी से जाते हुए कमलेश से नायबजी ने कहा।

लौटकर कमलेश कुर्सी पर बैठ गया—पूरवी बाई ज्यादा बीमार हैं। जल्दी जाना है।

‘पूछता हूँ, मालकिन की मृत्यु के साथ ही क्या सविता का अधिकार इस घर से जाता रहा?’ बिना भूमिका बाँधे ही नायब ने प्रश्न कर दिया।

‘ऐसा आपसे किसने कहा?’

‘बच्चों की-सी बातें कर रहे हो मैया । क्या कल यही नहीं कहा गया ?’

‘वही शिव-प्रतिष्ठावाली बात आप कह रहे हैं ? परन्तु आप तो जानते हैं नायबजी, घर का सम्मान मा घर की बहू पर सौंप गई हैं ? घर की बहू की आज्ञा मैं भी तो नहीं टाल सकता ।’

‘घर की बहू ? क्या वही घर की बहू है ? पूछता हूँ तुमसे कमलेश, क्या सविता घर की बहू नहीं है ?’

‘घर की बहू ? आप कहते क्या हैं ? सविता घर की बहू ?’

‘और नहीं तो वह कौन है ? मरने से पहले माजी सब बातें जान गई थीं । चौधरीजी की लड़की, जिसकी शादी तुमसे तय हो चुकी थी—फलदान तक हो गया था और हिन्दू-धर्म में फलदान का होना आधा विवाह समझा जाता है—वही चौधरी की लड़की है सविता । वह लड़की घर की बहू नहीं, तो क्या कहलायेगी ? उसी फलदान का मान लिये तुम्हारी छाया में योगिनी-सी बनी दिन बिता रही है, वह घर की बहू नहीं तो क्या कहलायेगी ?’

कमलेश जी खोलकर हँसना चाहने लगा । परिहास के सत्य पर जय पाना चाहने लगा, और चाहने लगा एक ही फूटकार में उस उवलन्त शिखा को निर्वासित कर देना । उसी शिखा को जो उसके हृदय के किसी कोने में जला करती है, और जलती है उसके अनजान में ही ; किन्तु नहीं, फिर भी वह यह सब कुछ न कर सका । वरन् एक निविड़ विस्मय लिये बैठा रह गया ।

‘कहो कमलेश, पहले जो बहू घर में आई है, उसका इस घर पर पहला अधिकार है या दूसरी का जो पीछे आई है ?’

कमलेश ने शायद ये बातें सुनीं, शायद न सुनीं । उसके कुछ न मानने-वाले चित्त पर अतीत की जाने कितनी छायाएँ पड़ने लग गईं । उस अन्ध-कारमयी रात्रि में सविता से भेंट हो जाना और उसकी मा की मृत्यु ; कमलेश को देखकर उस मृतप्राय नारी की दृष्टि की घृणा ; फिर सविता को घर पर लाना ; उसकी प्रत्येक छोटी-बड़ी बातें, मान-अभिमान, कलह-क्रन्दन ; और अपनी माता की अन्तिम बात ‘मुझ-सा तू भी अन्धा न बना रहना, सविता को..।’ माता के उस अर्द्धसमाप्त वचन में कौन-सा सत्य रह गया था, इसे

विचारकर कमलेश सिहर उठा। तो क्या सविता उसे चाहती है ? और और—क्या वह भी...कमलेश जोर से हँस पड़ा। जबरन अश्वीकार करने लगा, यह सब भूठ है, कोरी कल्पना है। प्रेम तो कवि की कल्पना-मात्र है। उस हँसी को सुनकर वृद्ध नायब रुष्ट हो गया—हँसते हो भैया ?

‘पागलों-सी तो आप बातें करते हैं।’

‘नहीं, अभी भी मैं पागल नहीं हुआ हूँ। तुम जब छोटे-से थे, मुँह से बात भी नहीं निकलती थी, तब से मैं इस घर में आया हूँ। तुम लोगों के सिवा मेरा दूसरा कोई दुनिया में नहीं है। भूठ नहीं कह रहा हूँ। सविता न्यायतः, धर्मतः इस कुल की बहू है, ग्रहण करना, न करना, यह तुम्हारी अपनी बात है।’

‘मा ने कैसे जाना कि रायबहादुर की लड़की यही सविता है ?’

‘पुरी में जाकर उन्होंने सविता से सब सुन लिया था। वे पत्र, मालिक ने जो रायबहादुर को विवाह के सम्बन्ध में लिखे थे, सब सविता को तुम्हारे बक्स में मिल गये थे।’

‘ठीक है। मुझे याद आ रहा है। एक दिन सविता ने कोई पत्र दिखलाकर मुझसे पूछा था ? किन्तु तब मैं यह सब कुछ नहीं समझ सका था।’

‘ठीक तो है ही। तब माजी ने धीरे-धीरे उससे सब बातें जान लीं।’

कमलेश ने अविश्वास से फिर भी सिर हिलाया—माना कि वह रायबहादुर की लड़की है और मेरे साथ उसका फलदान भी हो चुका था, फिर इससे क्या ? शादी तो नहीं हुई ? आप भूलते हैं नायबजी, पृथ्वीश से जब उसकी शादी की बातें चलीं तो इसी सविता ने कहा था—वह विवाहिता है। याद है न आपको।

‘अब क्या बुढ़ापे में मुझे लड़कों से प्रेम की बातें करनी पड़ेंगी ? अन्धे मत बनो कमलेश। साफ-साफ कैसे कहूँ ? वह तुम्हें चाहती है। पति समझे बैठी है। वह पतिव्रता सती दूसरे के घर कैसे जाती ?’

कमलेश के अनजान में लज्जा से उसके नेत्र झुक गये, किन्तु फिर भी दूसरे पल वह परिहास से हँस पड़ा—सब भूठ है, वह भूठी है।

‘भूठी वह नहीं, भूठा है कमलेश !’

‘मैं ? मैं भूठा हूँ ?’

‘भूठे हो तुम । अपने मन से पूछो ।’—नायबजी उठकर बाहर चले गये ।

और कमलेश ? उपहास करने जाकर भी उसके हृदय पर जाने एक कैसी व्यथा व्याप गई । आँखों के सामने चलचित्र के समान चित्र चलने-फिरने लग गये । आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा वह—मौर बाँधे, चन्दन-तिलक लगाये स्वयं खड़ा है वह, और सामने खड़ी है सविता ; अपने गले का गजरा उतारकर उसने सविता के गले में डाल दिया, पुष्पहार पहनाती हुई सविता का हाथ शायद कम्पित हुआ, शायद न हुआ, हार उसने कमलेश के गले में डाल ही दिया । बाहर वाद्य कोलाहल वैसा ही होता रहा । शंख-ध्वनि विरामहीन रही । और उस नवोढ़ा वधू सविता ने उसके चरणों में अपना सिर नवा दिया ।

कमलेश आराम-कुसीं पर लेट रहा । आँखें बन्द कर लीं । उन बन्द नेत्रों के भीतर आकर खड़ी हो गई दो युवती नारियाँ । एक विद्युत्-शिखा-सी तीक्ष्ण, दूसरी चाँद की किरण-सी स्निग्ध । उस विद्युत्-शिखा से उसकी आँखें जलने-सी लग गईं । ज्योत्स्ना की शान्त छाया ने आँखों पर मधु का लेप-सा कर दिया । और उसी छाया में बैठा-बैठा वह संसार को भूल बैठा । सविता—अपनी-सी सविता, भोली निभरशील सविता, घर की वधू सविता उसके नेत्रों के भीतर समाने-सी लग गई । कमलेश ने अधीर बाँहों में उसे समेट लेना चाहा । उसके बड़े हुए हाथ टेबल से टकरा गये । चमत्कृत कमलेश ने आँखें खोलीं । कहाँ सविता और कहाँ क्या ? लायब्रेरी में आराम चेयर पर तो वह बैठा था !

‘क्या इसे ही प्रेम कहते हैं ? क्या वास्तविक प्रेम का अस्तित्व यही है ? कमलेश के मन में ये बातें उठीं, वह जोर से हँसा—भूठ, भूठ ! बिलकुल भूठ ! वह कमलेश है । डाक्टर कमलेश । प्रेम को न माननेवाला, दुनिया को न माननेवाला, अपने को न माननेवाला है वह कमलेश । कैसा है यह पागलपन ? कमलेश उठकर खड़ा हो गया । भटके दे-देकर हाथ-पैरों को सीधा किया । थोड़ा-सा टहला । फिर सीटी बजाता हुआ बाहर निकल गया ।

[४०]

पूरवी की डेहरी में हँसी का कोलाहल मूच्छातुर हो रहा था। उच्छृङ्खल आमोद ने समाधि ले ली थी। पायल की झुंझुर निद्रालु-सी थी। दास-दासी उदास थे। वायु के कम्पन में शराब का रंगीला नशा नहीं, एक गहरी उदासी थी। और उस उदास वायु में पलङ्ग से लेकर पड़ी थी—मुट्ठी भर फूल-सी पूरवी।

‘आज कैसी हो पूरवी?’—कमरे में प्रवेश कर कमलेश ने पूछा।

कमलेश पूरवी का इलाज कर रहा था। महीने भर से पूरवी बीमार पड़ी हुई थी। सर्दी, खाँसी और बुखार ने उसे ऐसा दबाया कि महीने भर में वह छः महीने की मरीज-सी हो गई। पड़ी-पड़ी वह अखबार पढ़ रही थी। उसे हटाकर बोली—आज बहुत अच्छी हूँ डाक्टर। आठवें एडवर्ड ने राज्य त्याग दिया। आपने तो पढ़ ही लिया होगा।

‘फालतू। एडवर्ड-सा अहमक मैंने न देखा। एक तुच्छ स्त्री के लिए उसने राज्य त्याग दिया।’

‘स्त्री के लिए? नहीं, प्रेम के लिए कहो डाक्टर। जब से मैंने पढ़ा है तब से मेरे रोम-रोम में इस राजा के प्रति भक्ति, श्रद्धा, सम्मान, प्रीति उमड़ रही है। कैसा यह साहसी पुरुष है! सोचती हूँ डाक्टर, इस त्यागी साधु ने केवल प्रेम का सम्मान रखने के लिए राज्य त्याग दिया।’

देर तक कमलेश हँसता रहा, फिर हँसी रुकी तो कहने लगा—मैं तो उस व्यक्ति को निरा बेवकूफ समझता हूँ, जो एक औरत के लिए राज्य त्याग दे। यदि वह राजवंश की नहीं थी, और उसकी प्रेमिका राजवंश की न होने के लिए रानी नहीं बन सकती थी, तो इससे क्या? क्या जरूरत थी दुनिया में डक़ा पीटकर राजा को राज्य छोड़ने की? उस स्त्री को वह घर में तो रख सकता था न?

‘एक रखैल की तरह? अनुदार मन के आदमी, सङ्कीर्ण विचारवाले ऐसा कर सकते थे; किन्तु एडवर्ड वैसा नहीं है। तभी तो उस ओछेपन से उसने घृणा की। प्रेम का पावन दीप वह दुनिया के परे जलाना चाहता

है। इसी से उसने दुनिया की दौलत पर लात मार दी। और उस दौलत को एक तिनके के समान त्याग दिया। केवल प्रेम के लिए राजप्रासाद की अपेक्षा किसान की फोपड़ी को अधिक पसन्द किया। सोचो तो डाक्टर, कितना बड़ा मन है उसका, कैसा महान व्यक्ति है वह ?

‘प्रेम-प्रेम क्या बक रही हो पूरवी, प्रेम जैसी दुनिया में कोई चीज नहीं है।’

पूरवी अवाक् हो गई—कुछ नहीं है ?

‘नहीं, कुछ नहीं।’

‘तो दिन-रात संसार में यह जो प्रेम की पुकार उठा करती है, पति के साथ पत्नी प्राण तजती है, प्रेमिका के लिए प्रेमी संसार छोड़ता है, सो क्या है ? प्रेम के बल पर दुनिया पल रही है और उसी के बल पर नारी दुनिया के सब अत्याचारों को सहा करती है। यदि प्रेम नहीं है तो यह है क्या ?’

‘केवल शरीर की लुधा। भूख लगती है, तो हम भोजन करते हैं, प्यास लगने पर पानी पीते हैं, ठीक वैसे ही हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में एक लुधा भरी पड़ी है। जब जिसकी जरूरत पड़ती है, तब हमें उसकी माँग पूरी कर देनी पड़ती है। मन की लुधा को कवियों ने प्रेम कह दिया है और बस !’

शान्त दृष्टि से डाक्टर को देखती हुई पूरवी ने पूछा—एक बात आपसे पूछ सकती हूँ ?

‘खुशी से पूछो।’

‘मैंने सुना है कि आपकी पत्नी सुन्दरी और विदुषी हैं। सच है यह बात ?’

‘बात ठीक है। आगे ?’

‘मुझे विस्मय है डाक्टर। क्या ऐसी स्त्री के लिए भी तुम्हारे मन का प्रेम मूर्त न हुआ होगा ?’

‘वही बात ! वह हैं। घर में रहती हैं। इतना ठीक है। इससे ज्यादा और कुछ तो मैंने नहीं जाना पूरवी। वरन् इतना और कह सकता हूँ कि उनकी ओर देखने से मेरे नेत्र की दृष्टि जल-सी जाती है।’

पूरवी ने सिर हिलाया—ऐसा ! फिर अटल विश्वास से बोली—प्रेम से

अचूका व्यक्ति दुनिया में है ही नहीं डाक्टर। या तो तुम जान बूझकर झूठ बोल रहे हो, या स्वयं अपने मन से तुम अनजान हो। इन दोनों बातों में एक तो सच होने ही की है। क्या तुमने कभी भी किसी स्त्री को नहीं चाहा ?

‘मैंने ?’

पूरवी ने उसे तीक्ष्ण दृष्टि से देखा।

‘ना, कभी नहीं।’—कमलेश ने कहा।

‘सच कहते हो ?’

‘हाँ।’

‘मुझे विस्मय है डाक्टर।’

‘किस बात पर बाईजी ?’

‘आपकी पत्नी पर। यदि उनके मन में पति के लिए प्रेम है तो उस प्रेम ने पति पर जय क्यों न पा ली ?’

‘वह भी तो मुझसे प्रेम नहीं कर सकती हैं न।’

‘आज आप यह कैसी-कैसी बातें सुना रहे हैं। आपने कैसे जाना ?’

‘मेरे पूछने पर उन्होंने बतलाया था।’

विमूढ़ विस्मय से पूरवी चुप रह गई।

‘और तुम पूरवी ?’—एक सादे कौतुक से कमलेश ने पूछा।

‘प्रेम की बात पूछ रहे हो ? किन्तु डाक्टर, वेश्या-हृदय के प्रेम का अन्दाज लेना तो एक ठग ही-सा है न ?’

‘मुझे लगता है पूरवी, कि जब तुम प्रेम को देव-देवी-सी मानती हो, तो जरूर तुम उसे जानती हो।’

‘उस बात को जानकर तुम क्या करोगे कमलेश बाबू ? वेश्या-हृदय के रन्ध्रों में जो व्यथा, जो निविड़ आँसू भरे पड़े हैं, उन्हें जानकर तुम नास्तिक क्या करोगे ? मुझे दुनिया से घृणा पाना था, सो पा रही हूँ, और उसे ही लेकर जीवन का अन्त हो जायेगा। क्या इतना लाभ कम है ?’

‘यदि वेश्या-जीवन से तुम्हें ऐसी घृणा थी पूरवी, तो तुम इस जीवन में आई ही क्यों ?’

‘मैं जान-बूझकर नहीं आई डाक्टर । यही मैंने अपने को पाया और जब अपनी ओर ताका मैंने तो पाया अपने को पृथ्वी की धूल-कीचड़ से सनी हुई । वहाँ से उठने का कोई उपाय तो था नहीं । एक ओर थी मैं लुटी हुई नारी, दूसरी ओर एक असहाय गृहस्थी, मेरी क्वारोंरी और विधवा बहनें, उनके बच्चे, अन्धा बाप । कमाकर उन्हें देती हूँ । छिपकर कभी घर तक चली जाती हूँ । कभी पिता के दर्शन कर लेती थी, सो महीना भर हुआ, वह भी परलोक चल बसे । दुनिया ने पाया केवल एक विलासिनी, उच्छृङ्खल, सूखी पूरवी वाई को ; किन्तु उस आँसू से सनी, हाहाकार से भरी पूरवी के अन्तर की नारी को उसने न पहचाना, न जानना चाहा । प्रेम ? छिपाऊँ क्यों ? इस अन्तिम वेला में जब प्रेम पूरवी वेश्या के द्वार पर आकर खड़ा हो ही गया, तो वेश्या पूरवी क्या कर सकती थी ? चाहे उसका प्रेम एकनिष्ठ रहा हो, चाहे उस पूरवी का प्रेम पावन रहा हो, चाहे समुन्दर-सा गम्भीर ही रहा हो ; फिर भी वह कर क्या सकती थी ? उस प्रेम से वह अपने पिया का ध्यान कर सकती थी ; मन ही मन उसे प्यार, आदर, सम्मान, श्रद्धा सब कर सकती थी ; किन्तु उस प्रेम के बल वह अपने पिया को बाँह में तो नहीं समेट सकती थी । क्यों ? क्योंकि प्रेम उसका विमल रहते हुए भी शरीर तो उसका अशुचि हो गया था न ?’—पूरवी हठात् चुप रह गई—समाधिस्थ-सी ।

‘तुमने अपने प्रेमी पर अपना प्रेम प्रकट क्यों न कर दिया पूरवी ?’—अपने अनजान में कमलेश ने पूछा ।

यद्यपि कमलेश प्रेम में विश्वास न करता था । जानकर भी उसे अस्वीकार करना चाहता था ; तथापि पूरवी की प्रेम-कथा सुनने में उसे बड़ी अच्छी लग रही थी । सुख की चरमता में बैठी इस बाईजी के इन दुःख के आँसुओं ने उसे चकित कर दिया था ।

‘अपना प्रेम ? नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकती ; किन्तु शायद उन्होंने जान लिया हो, मैं कह नहीं सकती । और एक दिन उन्होंने पूरवी वेश्या को गृहिणी बनाना चाहा था ; किन्तु मैं उसे स्वीकार भी तो न कर सकी ।’

‘स्वीकार न कर सकीं ? कैसी अनोखी बातें सुना रही हो पूरवी ?’

‘अनोखी ? नहीं डाक्टर ! मन के अतल में कैसी-कैसी बातें छिपी पड़ी रहा करती हैं, उसकी खबर कहाँ तक रखी जाये ? जाने दीजिए इन बातों को । तुम पृथ्वी के जीव हो, प्रेम से बचकर तुम नहीं रह सकते । एक दिन तुम्हें भी उसकी खबर लग जायेगी, या शायद लग गई हो । कहा तो कुछ भी ठीक-ठीक नहीं जा सकता है डाक्टर । शायद उसे तुम जबरन ही अस्वीकार करना चाहते हो ।’

कमलेश इस बात पर विद्रोह करने जाकर भी न कर सका । केवल दुर्बल स्वर से बोला—कुछ भी कहो बाईजी, उस प्रेम की सत्ता मैं तभी मान सकता हूँ, जब कि दोनों आँखों से उसे देख सकूँ ।

पूरवी ने ताच्छल्य से उसे देखा—देखकर, जब कुछ जान-बूझकर जो व्यक्ति अन्या बनना चाहता है, उसे समझाना कठिन ही नहीं, असम्भव है । आँख के सामने जिस अविराम प्रेम की लीला तुम देखा करते हो, उसी को अस्वीकार करना चाहते हो । यह परिहास नहीं तो क्या है ?

‘तुम चिढ़ती हो पूरवी । मैं देखना चाहता हूँ, वह है क्या, और कहाँ कैसे रहता है ? इस सुन्दर शरीर में वह प्रेम, जिसकी ऐसी व्याख्या हुआ करती है, जिसे मैं घृणा करता हूँ, जो कवि का एक खेल है, वही प्रेम इस सुन्दर शरीर में रहता कहाँ और कैसे है ? और वह जीवन जो एक रहस्य-सा लगता है, उसे मैं छान-बीनकर अपनी आँखों से देखना चाहता हूँ ।’

‘चल सकते हो मेरे साथ अमावस्या की रात में श्मशान तक ? चल सकते हो मेरे साथ ज्वलन्त चिता के सामने ? चल सकते हो हिमालय पर्वत के उच्च शृङ्ग पर ?’

‘वहाँ चलने पर मुझे दिखला सकोगी ?’—कौतुक से कमलेश ने पूछा ।

‘शायद दिखला सकूँ ।’

‘मैं तैयार हूँ ।’

‘अब वैसा कैसे होगा ?’—निराशा से वह रो-सी पड़ी ।

‘क्यों न होगा ?’—आग्रह से कमलेश ने पूछा ।

स्थिर दृष्टि से कमलेश को देखती हुई पूरवी बोली—तुम सोचते हो क्या अब मैं उठ सकूँगी डाक्टर ?

‘निराश क्यों हो रही हो ? उठोगी तुम ।’

‘निराश ?’—पूरवी खिन्न हँसी—जीवन से निराश ? किन्तु पूरवी मरने से तो नहीं डरती डाक्टर । मैं जानती हूँ कि अब ज्यादा दिन दुनिया में रहने की नहीं ।

कमलेश का मन आर्द्र हुआ, करुणा से वह कह उठा—तुम्हें मैं जिलाऊँगा पूरवी । इस कोकिलकंठी को इतनी जल्दी हम बिदा नहीं दे सकते ।

कमलेश उठकर खड़ा हो गया—जा रहा हूँ । कल तैयार रहना, एकसरे लिया जायेगा ।

‘आप चलेंगे मेरे साथ ?’

‘चलूँगा । मैं उपस्थित रहकर स्वयं चित्र लेना चाहता हूँ । तुम्हें जिलाना चाहता हूँ । दूसरी बात, मैंने स्वयं कभी एकसरे लिया नहीं ; सो उसे भी देखना चाहता हूँ ।’

‘कष्ट करना व्यर्थ है । यद्यपि मैं डाक्टर नहीं हूँ, फिर भी कह सकती हूँ कि मुझे क्षय हो गया है । बस एक-दो महीना बची तो बची ।’

‘देखा जायेगा । तैयार रहना ।’

‘पृथीश बाबू केटा से लौट आये ?’

‘हाँ ! वह आजकल कारखाने खुलवा रहा है । जाने कितने कल पुर्जे, मशीन, सामान मँगवा डाला है । पागल हो रहा है—कारखाने के पीछे । घर कभी आता है तो अपनी भाभी को साथ ले जाता है उसी कारखाने में ।’

‘आपकी स्त्री को भाभी कहने हैं ?’

‘हाँ । दोनों में खूब पटती है ।’

कमलेश निकलकर चला गया । पूरवी ने फिर से अखबार उठा लिया ।

[४०]

‘भाभी ?’—पृथीश ने कमरे में प्रवेशकर पुकारा—भाभी । रूपरेखा के कमरे में खिड़की के पास खड़ी थी सविता । पुकार सुनकर सविता आगे आई—आओ भैया ।

पृथीश देखकर विस्मित हुआ कि इतना सब कुछ हो जाने के बाद भी यह लड़की उसे देखकर न तो संकुचित हुई और न लजाई। वरन् एक अखण्ड स्पर्द्धा से उसके सामने खड़ी हो गई; और वैसे ही निलेज साहस से उसे पुकारकर कह रही है—आओ भैया।

‘बैठ जाओ न पृथीश भैया। हाँ, इस कुरसी पर बैठो। मैं सन्ध्या-आरती कर अभी आई।’

यद्यपि पृथीश इस नारी से घृणा करता था, किन्तु फिर भी उसके आह्वान को वह ठुकरा न सका। विशेषतः उस स्पर्द्धा के सामने वह स्तम्भित-सा हो रहा। पृथीश बैठ गया। सविता चली गई।

शंख के शब्द से पृथीश सचेतन हुआ। सविता ठाकुर-घर में गई होगी और सान्ध्य दीप उजियारकर उसी ने शंख बजाया होगा। इतना विचारकर घृणा, परिहास से पृथीश चक्र हँसा। एक वेश्या से भी अधम स्त्री पूजा-पाठ का स्वाँग रचती है। प्रतारणा से दुनिया को अन्धी बनाना चाहती है। अपने को निष्ठावती, भक्तिमयी बतलाकर अपने असली रूप को ढाँकना चाहती है। कैसी चतुर हैं यह नारी? किन्तु इसकी चतुराई मेरे पास कुछ न चल सकने की। और दुनिया भी तो जान गई है—न कि सविता क्या है! वेश्या नहीं तो क्या? पूरवी वेश्या है; किन्तु कितनी ऊँची है वह। उसने सब कुछ अस्वीकार कर दिया। वेश्या के द्वार पर जब गृहिणीत्व का आवेदन पहुँचा, तब उसके नेत्र शायद ही एक बार लोभातुर हुए हों और फिर उसने साहस से उसे अस्वीकार कर दिया। और यह सविता? सती के आवारण में अपने को ढाँककर व्यभिचार करने बैठ गई। न लज्जा है, न शर्म। एक गृहस्थी इसने बर्बाद कर दी। पति-पत्नी के बीच में यह एक अटल प्राचीर-सी खड़ी हो गई है। एक रूपवती, विदुषी नारी का जीवन ही इसने व्यर्थ कर दिया। और कमलेश? नीच कहीं का! सब बातें उसकी बनावटी हैं। इसीके पीछे वह दीवाना बना फिरता है। उस दिन पार्टी में साफ़-साफ़ कह दिया न चारुबाबू ने कमलेश के मुँह पर कि ‘तुम्हारे तो दोनों हाथ लड़्डू हैं, किस्मत भी तुम्हारी जबर-दस्त है; दो-दो मिलीं; और दोनों ही परी-सी खूबसूरत।’

रकेबी में पान-इलायची लिये सविता पहुँच गई—अकेले बैठे रहना पड़ा पृथ्वी भैया। उधर गई सो देर लग गई। रेखा दीदी नहीं हैं, काम सब देखना पड़ता है।

‘तुम्हारा ही तो सब कुछ है। चैन की बंसी बजाओ। आराम से रहो।’
—एकदम कठोर होकर कहा पृथ्वीश ने।

विस्मय-विमूढ़ सविता उसका मुँह निहारने लगी। अभी जरा पहले जो उससे सदय व्यवहार कर रहा था, अचानक किस लिए वह रुढ़ हो गया? नहीं, सविता की समझ में बात बिल्कुल न आई।

सविता को व्यंग से विद्ध करने में, परिहास से व्यथित करने में संसार व्यस्त था और जिसे लेकर ऐसी अशान्ति, रंग-कौतुक चल-रहा था वही रह गई थी उस बात से अनजान।

‘तुम्हारी बातें मैं नहीं समझती।’—सरलता से सविता ने कहा।

‘अभी मुझे समझाने का वक्त भी नहीं है। बतलाओ, भाभी कहाँ हैं?’

‘कहा न, रेखा दीदी घर पर नहीं हैं।’

‘कहाँ गई?’

‘मा के साथ गई हैं।’

‘तो पन्द्रह-बीस दिन वह क्यों लौटने लगीं। चलो छुट्टी हुई। कमलेश कहाँ है?’

‘जाने कुछ अच्छा-सा तो नाम है, वहीं गये हैं। एकसरे लेना है। देर से लौटेंगे।’

‘कब गया है?’

‘प्रायः तीन बजे।’

‘जरूरी काम था, वहीं चला जाता। नाम तुम्हें बिल्कुल याद नहीं है?’

‘नाम? बिल्कुल याद नहीं। अच्छा ठहरो। शायद पूरव बतलाया था।’

‘पूरबी कहा था?’

‘बस, यही है। भोजन के समय वह नायबजी से कह रहे थे कि आज गाँव न जा सकूँगा। मुझे पूरबी का एकसरे लेना है।’

‘पूरवी का एक्सरे लेना है! क्या वह ऐसी बीमार हो गई?’—पृथ्वीश ने इस तरह कहा—‘मानों अपने आपको सुना रहा हो। पृथ्वीश कुर्सी पर बैठ गया। पृथ्वीश—‘तुमने अच्छी तरह से सुना था न?’

‘हाँ, यही बातें थीं।’

पृथ्वीश देर तक जाने क्या विचारता रहा। सविता चली गई। कई दिन से ठाकुरजी की सेवा ठीक से नहीं हो रही थी। रूपरेखा के न रहने से गृहस्थी के धन्धों में सविता लगी रहती। अनभ्यस्त हाथों से कुछ करती, कुछ भूल जाती। विशृङ्खलता की सृष्टि होती। देख-सुनकर कमलेश कहता—‘यह पत्थर की मूर्ति थोड़े ही है सवि, चन्दन-घी लगाकर रख दिया; दो-चार फूल के गजरे पहना दिये, बस। यह मनुष्य की सेवा है। यहाँ तो नियम की जरूरत है। जिसका काम उसी को सोहता है। यहाँ जरूरत है परिश्रम और प्रतिभा की। रूपरेखा ही गृहस्थी को सुन्दरता से चला सकती है। सविता नहीं। हाँ, तुम पत्थरों में चन्दन-तिलक अवश्य लगा सकती हो।’

चिढ़ने के बदले सविता एक प्रकार से गर्व अनुभव करती। कमलेश के उपेक्षित उन पत्थरों के लिए उसके मन में भक्ति उमड़ पड़ती। वह खिलखिला उठती, कहती—‘मेरे पत्थर ही अच्छे हैं। न वे कभी सेविका की समालोचना करते हैं, न निन्दा। वरन् सेविका प्रेम, श्रद्धा से जो कुछ करती है, देती है, वह उसे आदर से स्वीकार करते हैं और बदले में सेविका को मिल जाता है विपुल आनन्द, विनाश-हीन शान्ति और एक शान्त, निर्द्वन्द्व आश्रय।’

कमलेश इठलाकर हँसता, कहता—‘तुम जैसी भोली लड़कियों के लिए पण्डितों ने अच्छा स्वाँग रच रखा है। चलो, किसी तरह उनका पेट भी तो भरना है। हाँ, और वह शिव का मन्दिर...

‘शिव नहीं, शिवजी कहो।’—बात काटकर सविता कहती।

‘अच्छा भाई, शिवजी ही सही। तो मन्दिर का क्या हुआ?’

‘कहाँ बना?’—आनन्दमुख से वह उत्तर देती।

‘मुझे राजबाड़ी से अच्छी आमदनी हो गई है। रुपये ले लो और मन्दिर बनवा लो, वरना वह पत्थर की मूर्ति कहीं रूठ न जाये।’

सविता खुशी से मबल-सी पड़ती—फिर कल ही से काम लगा दिया जाये। देखना, कैसा अच्छा मन्दिर बनता है। और सिंहासन पर शिवजी जब सोहेंगे...अच्छा, तुम बिलकुल नहीं मानते शिवजी को ?

प्रश्न करके सविता के मुख पर एक दीप्त आभा व्याप जाती, उस मुख को देखते-देखते कमलेश जाने कैसा हो जाता। अपने आप उसके पैर सविता के निकट चले जाते और फिर हठात् वह चौंककर भाग निकलता।

और सविता ? अद्भ्य विस्मय से वह कमलेश को देखती, फिर अशान्त चित्त से माला गूँथने बैठ जाती। धीरे-धीरे उसका मन शान्त हो जाता।

तो सविता पृथीश के निकट से आई, स्नान किया और ठाकुर-घर में माला गूँथने बैठ गई। पृथीश आकर द्वार के बाहर खड़ा हो गया—पूरबी कौन है, तुम जानती हो सविता ?

हठात् एक ऐसा प्रश्न सविता जैसी लड़की को भी अद्भुत-सा लगा। और उसका अद्भुत-सा लगना पृथीश को लग गया खराब।

‘तुमसे कहने की मुझे कोई जरूरत नहीं ; केवल जानना चाहता हूँ, तुम उसे जानती हो या नहीं ?’—पृथीश उत्तेजित हो रहा था।

‘नहीं तो।’

‘शहर की वह एक प्रसिद्ध वेश्या है।’

फिर भी सविता को चुप रहते देखकर पृथीश मुँहभत्ता पड़ा—कुछ सुनती भी हो ?

‘सुन रही हूँ पृथीश भैया, फिर मैं क्या करूँ ? वेश्या है तो रहे। मुझसे मतलब ?’

पृथीश क्रोध को दबाते हुए बोला—कमलेश उसी वेश्या के घर रोज जाता है।

‘वह डाक्टर हैं, मरीज के घर तो उन्हें जाना ही पड़ेगा।’ सहज स्वर में सविता बोली।

बार-बार इस तरह पराजित होकर पृथीश दुर्निवार हो गया—वेश्या के घर न जाने से क्या डाक्टरी नहीं चल सकती ?

‘परन्तु डाक्टर को तो अमीर-गरीब, गृहस्थ-वेश्या सब पर एक-सी ही दृष्टि रखनी चाहिए भैया ।’

‘मैं यहाँ लेक्चर सुनने नहीं आया हूँ सविता । तुम-सी बनी हुई लड़कियाँ मैंने बहुत देखी हैं । समझीं सविता ? तुम मेरी आँखों में धूल नहीं भोंक सकती ।’

सविता ने सीधे होकर उसे देखा—तुम हर वक्त बिना कारण मुझे अपमानित क्यों किया करते हो ? यह ठाकुर-घर है । यहाँ भगड़ा-विवाद नहीं चल सकेगा । जाओ, मुझे काम करने दो ।’

पृथीश हतवाक् हो रहा । इस मूक, पददलित, विनीत नारी के पास अपने लिए कहने को कुछ रह सकता है, इसकी सम्भावना तो पृथीश के मन में कभी न उठ सकी थी । दुर्निवार क्रोध से पृथीश काँपने लगा ; किन्तु फिर भी चुपचाप उसे चले जाना पड़ा ।

[४१]

अस्पताल के उस बड़े हाल की खिड़की-दरवाजों पर काले परदे लटक रहे थे और भीतर थी अमावस्या-सी गाढ़ी अँधेरी, मानों दिन के प्रकाश को जबरन ही अन्धकूप में बन्दी कर दिया हो ।

हाल के बीच संगमरमर का एक बड़ा टेबल, एक तरफ लम्बे-लम्बे टेबलों पर नाना प्रकार के यन्त्र । दीवाल पर लगे हुए कई यन्त्र । यह ऐकसरे लेने का कमरा था ।

पूरवी के ऐकसरे का चित्र लेने स्वयं कमलेश आया था । वह स्वयं पूरवी का ऐकसरे लगा । तो पूरवी के सीने पर प्लेट लगाकर उसे दीवान से सीधी खड़ी करके उसके हृदय पर से वस्त्र बिलकुल हटा लिये गये और यन्त्र लेकर कमलेश सामने खड़ा हो गया । धीमी आवाज के साथ यन्त्र चलने लगा ।

अचानक कमलेश चीख पड़ा ।

अँधेरी में आँखें गड़ाये पूरवी ने पूछा—क्या बात हो गई डाक्टर ?

‘तुम्हारे सुन्दर शरीर के भीतर यह हाड़ का ढाँचा कैसा पूरवी ?’

पूरवी सहमी—क्या देख रहे हो डाक्टर । एक नर-कङ्काल ?

‘हाँ, हाँ, भयावह कङ्काल । एक रूपसी का अन्तःस्थल ऐसा कुत्सित, ऐसा डरावना ?’

‘पूरवी मुसकाई । अँधेरे के स्तरों में उसकी वह मुस्कान समा-सी रही ।

‘हाँ डाक्टर, और यही है मानव का वास्तविक रूप । वही रूप, जिसे तुम टुकड़े-टुकड़े कर देखना चाहते थे ।’

‘यही है मानव का वास्तविक रूप ? नहीं पूरवी, वह ऐसा असुन्दर कैसे हो सकता है ? मानव का वास्तविक रूप इतना कुरूप ? और यह तुम्हारी कमनीय कान्ति ?’

‘मानव का बाहरी आवरण ? वह है प्रेम का वास्तविक रूप । आवरण ? हाँ, यह तो एक आवरण मात्र है डाक्टर । यह जो हाड़ों के जाल में आवद्ध एक असुन्दर स्थान देख रहे हो डाक्टर, वही हृदय है प्रेम का निवास-स्थान । किन्तु वह अन्तःहीन प्रेम जब उस छोटे-से स्थान में आवद्ध रहकर सन्तुष्ट नहीं हो सकता, तो अपने स्पर्श से, अपनी शक्ति से मानव के बाहरी आवरण में एक चमत्कार, एक आकर्षण भर देता है—चाँद की किरण जैसा । और वह प्रेम जल-वायु में, लता-वृक्ष में, प्रत्येक धूलिकण में बसा हुआ वह प्रेम विश्वप्रेम बन जाता है । उसकी ज्योति में असंख्य जीवनों की सृष्टि होती रहती है । देख लिया न प्रेम को ?’

‘ठहरो पूरवी । यह तो पागलों जैसा प्रलाप है । उसकी ज्योति में जीवों की सृष्टि कैसे हो सकती है ?’

‘कहती हूँ । परंतु जरा दम ले लूँ । चित्र ले लिया हो, तो चलकर बाहर बैठें ।’

कमलेश ने जल्दी-जल्दी प्लेट पर चित्र लिया । और वे दोनों दूसरे कमरे में बैठ गये । पूरवी आराम-कुर्सी पर लेट रही । पानी पीकर वह फिर बोलने लगी—नर-नारी का प्रेम जब एकीभूत हो जाता है, तब वह प्रेम से सृष्टि में ओत-प्रोत हो जाता है । मानवी के उदर में मानव शिशु का जन्म देकर वह प्रेम विश्वव्यापी बन जाता है । उसका काम है रक्षा, सृष्टि और पालन करना ; किन्तु विनाश करना नहीं । और तुम डाक्टर उस प्रेम को अस्वीकार करना चाहते हो, विनाश का बीज-मन्त्र जपते हो !

‘मैं विनाश का बीज-मन्त्र जपता हूँ ?’

‘जरूर । पिता की जाति पुरुष होकर तुम उस पितृत्व को बन्ध्या बना रहे हो ? उस अनन्त प्रेम को जबर्दस्ती अस्वीकार करना चाहते हो । आँख रहते हुए भी अन्धे बन रहे हो ।’

‘पितृत्व ! मेरा पितृत्व !’—कमलेश बार-बार कहने लगा । उसके अहङ्कारी पुरुष मन में जाने कैसी एक दाह की भावना होने लगी । उसे लगने लगा, अपने दोनों सबल हाथों से इन रुग्ण, दुर्बल सुन्दरी को निष्पेषित कर डाले । उसे लगने लगा, इस सारी सृष्टि को वज्र-प्रहार से त्रस्त-मथित कर डाले ; धूलिकण को समुद्र में समा दे ।

रुद्र स्वर से उसने कहा—‘दुनिया में केवल मैं ही अकेला नहीं हूँ पूरबी । साधु-सन्तों की बातें तुमने पढ़ी होंगी । योगी-ऋषि की कथा का अभाव नहीं है । क्या उन्हें तुम पशु कहना चाहती हो ? उन्होंने क्यों अपने पितृत्व को वंचित बनाया ?’

‘दुनिया में जीव-मात्र प्रेम का पुजारी है । योगी-ऋषि का प्रेम हम गृहस्थों से शत गुणा उच्च श्रेणी का होता है । उनका प्रेम ऐसा ऊँचा, ऐसा असीम है कि उस असीम प्रेम से असीम ही की वन्दना कर सकते हैं । हम गृहस्थी वैसा प्रेम कहाँ पायेंगे ? उनका पितृत्व केवल मानव शिशु को जन्म देने में आबद्ध कैसे रह सकता है ? विश्व में और विश्व के भी परे अनन्त वायु में उनका प्रेम व्याप जाता है ।’

‘तुम्हारी कल्पना, तुम्हारा विचार निन्दनीय नहीं है । किन्तु मैं पूछता हूँ पूरबी, तुमने अपने मातृत्व को बन्ध्या क्यों बनाया ?’

पूरबी उदास व्यथा से हँसी—‘वही तो मेरे इस नारीजीवन का अमोघ उपहास है डाक्टर, और है अभिशाप ! कहना तो मैं किसी से कुछ न चाहती थी ; किन्तु इस जीवन के अन्त में जब तुम पूछ ही बैठे, तो कहना पड़ रहा है कि स्टेथिस्कोप से तुम इस हृदय का स्पन्दन सुना करते हो । यदि मनोयोग से सुनते तो, सुन पाते कि वेश्याजीवन का लाञ्छित मातृत्व किस हाहाकार से, आकुल वेदना, निष्कल क्रोध से सदा सिर पीटा करता है । मा बनने के

लिए मैं एक दिन दुनिया में आई थी और बन गई राक्षसी । और अपनी ही अनिच्छा से । नहीं, इसके लिए मैं किसी को भी दोष नहीं दे सकती । केवल पूछती हूँ—इससे बड़ा परिहास भी क्या दुनिया में कुछ हो सकता है ? तुम नहीं समझ सकोगे डाक्टर, कि मा होने के लिए मेरे मन की भूखी नारी कभी-कभी कितनी आतुर हो जाती है, कभी-कभी कैसी ललचाई आँखों से उस मातृत्व को निहारा करती है ! कैसा भीषण प्रलोभन कभी उसके मन को आच्छन्न कर लेता है । किन्तु फिर भी उसे अपनी पूरी शक्ति लगाकर सब कुछ को दबा लेना पड़ता है । पूरवी वेश्या को कभी उस मा से द्वन्द्व करते ही रात बितानी पड़ जाती है । किन्तु पूरवी वेश्या तो मा नहीं बन सकती है डाक्टर । क्यों ? क्योंकि वह जानवर नहीं, आदमी है । तो वह तभी सृष्टि कर सकती है जब कि अपनी सृष्टि को केवल जीवित ही नहीं ; किन्तु सम्मान से जीवित रख सके । वेश्या की सन्तान वेश्या ही की पंक्ति में बैठ सकती है ।’

कमलेश चुप रह गया ।

जरा दम लेकर पूरवी कह चली—दुनिया के जीव दुनिया से विदा ले जाते हैं ; किन्तु रख जाते हैं इस दुनिया में अपना एक प्रिय चिह्न । उसी चिह्न के बल पर वह मरकर भी दुनिया ही में जीवित रह जाते हैं । मेरी बात छोड़ दो डाक्टर । तुम विद्वान् हो, शिक्षित हो । निरपराध पत्नी को माता होने से मत रोको । दुनिया के अणु में अपने रक्त की एक बूँद देते जाओ । अभागा वह है...

‘चुप, चुप रहो पूरवी । तुम्हारी इस जानकारी को अर्थ मैं नहीं सुन सकता ।’

डाक्टर की आवाज पूरवी को एक आर्तदान-सी लगी । वह व्यथा से मुस्कराई, फिर चुप हो गई ।

[४२]

पूरवी को घर पहुँचाकर कमलेश घर पर लौट आया । आया और चुप चाप पड़ रहा ।

आज वह अपनी आँखों सब कुछ देख-सुन आया था । हँसकर सब

कुछ उड़ा देना चाह रहा था ; किन्तु जाने कैसी एक द्विधा, कैसी एक अस्व-च्छन्दता उसे घेरे हुई थी ।

रात हो चली । कमलेश वैसा ही पड़ा रहा । अपनी उमङ्गों में मस्त जीवन जब एक ओर बहता चला जा रहा था, तब मानों एक प्रबल भटिका उठ पड़ी, जिसने उन उमङ्गों की त्रस्त, मथित कर चहुँओर बिखेर दिया । अपनी सबल बाँहों से कमलेश उन्हें समेटना चाहने लगा । और बाँहों को दुर्बल पा अपने आप पर झुँझलाने लगा । कमल शिथिल होकर कोच पर पड़ रहा और पड़ा ही रह गया ।

जाड़े की मीठी धूप-सी, शिशिर-सिक्त रजनीगन्धा-सी, सूर्य में दबी सूरजमुखी-सी सविता धीरे चरण से लायब्रेरी में आकर खड़ी हो गई । उसी चिर-परिचित लायब्रेरी में, जहाँ अतीत की जाने कितनी ही स्मृतियाँ चहुँओर लिपटी पड़ी थीं, जहाँ कितने ही हास्य, कौतुक आज भी मुखर होने के लिए उत्सुक थे, जहाँ गुरु-शिष्य की कितनी ही शिक्षा की छबियाँ छिपी पड़ी थीं, जहाँ किसी का प्रेम विकल हो पड़ा था । उसी लायब्रेरी में आकर खड़ी हो गई सविता । और चहुँओर से एक आकर्षण उसे जकड़ने-सा लग गया । उसने उस ओर देखा, न देखा ; असंकोच चली गई कमलेश के सिरहाने । पुकारा—उठो न, नौ बज रहे हैं ।

कमलेश ने अधखुले नेत्रों से उसे देखा, धीरे से बोला—इतने दिनों के बाद ।

‘क्या कह रहे हो ?’

‘इतने दिनों के बाद फिर वैसे ही पुकारने आई हो तुम सविता ?’

सविता कुछ समझी, कुछ न समझी, कहा उसने—रेखा दीदी थीं, तो वही आती थीं । मुझे यहाँ आने की जरूरत न पड़ती थी । चलो, भोजन कर लो ।

‘चलूँ ? क्या मेरे पास जरा-सा बैठ भी नहीं सकती ?’

‘ठाकुर-घर में जाना है, कपड़े सब छू जायेंगे ।’

कमलेश अवाक रहा, उस दिन की वह अपनी-सी सविता इस तरह से

पराई बनना कैसे सीख गई ? वह भिखारिन सविता आज राजरानी कैसे बन गई ? अपनी इच्छा-अनिच्छा जताना कैसे सीख गई ?

‘चलो, देर हो रही है। अभी ठाकुरजी का भोग लगाना बाकी है।’

‘रहो तुम अपने ठाकुरजी को लेकर। जाओ मेरे सामने से।’ कमलेश लुब्ध व्यथा से कह उठा।

सविता दुःखी हुई। फिर दूसरे पल वह कमलेश के सिरहाने बैठ गई—चलो।

पड़ा-पड़ा कमलेश उसे देखता रहा। अचानक उसके हाथ अपने-आप सविता के गले में लिपट गये।

सविता आच्छन्न-सी हो रही। पलभर सविता सहमी। फिर परम आदर से उन हाथों को हटा दिया। तब माता-सी स्नेह-थपकियाँ दे-देकर सुलाने लगी और शिशु की भाँति कमलेश पड़ा रहा।

‘भोजन न करोगे ?’—देर के बाद सवि ने पूछा। एक शराबी-सा लड़-खड़ाता कमलेश उठकर चल लिया।

[४३]

‘आ गये तुम !’ पृथीश की आँर देखकर शान्त स्वर से पूरवी ने कहा।

तृतीय इन्जेक्शन देने के बाद पूरवी की चेतना कुछ लौटी थी।

सब डाक्टर चले गये थे, केवल कमलेश तब भी बैठा था। यद्यपि वह जान रहा था कि पूरवी और थोड़ी देर के लिए दुनिया में है। किन्तु फिर भी प्रयत्न जारी थे।

उस रुग्ण स्त्री को देखकर पृथीश स्तब्ध हो रहा।

‘अभी उस दिन तक तो तुम बिल्कुल अच्छी थीं पूरवी।’—कहा केवल इतना ही पृथीश ने।

‘जल्दी छुट्टी मिल गई पृथीश बाबू।’—शान्ति से हँसकर पूरवी कहने लगी—तुम जरा मेरे सामने आकर बैठो।

विमर्ष पृथीश उसके पलंग पर बैठ गया।

‘कुछ कहना चाहती हो पूरवी ?’—पृथीश ने पूछा।

‘कहना चाहता हूँ और तुम्हीं से। अन्त समय में दो आदमियों की जरूरत थी। एक तुम्हारी और एक गवैये की। तुम आ गये और वह भी आते ही होंगे। जाते वक्त मैं शान्ति से जाना चाहती हूँ। विस्मित हो रहे हो ? गवैये को क्यों बुलाया ? गाना सुनते-सुनते आराम से सो जाऊँगी। और सामने रहोगे तुम। कभी स्मरण कर लेना। पृथ्वी के कोलाहल में रमे हुए तुम कभी स्मरण कर लेना, वेश्या पूरवी को नहीं; नारी पूरवी को। कर लेना स्मरण कि नारी पूरवी ने केवल एक मनुष्य को चाहा था। जी खोलकर चाहा था पृथ्वीश को। उसका प्रेम पृथ्वीश के पैर तले लुटकर धन्य हो गया था।’

विस्मय से कमलेश स्तब्ध रह गया। उसके हाथ का इन्जेक्शन हाथ ही में रह गया। वह उत्कर्ण होकर सुनने लगा। मानों उन बातों को वह पी रहा हो।

पृथ्वीश की वेदना उसके अन्तर में विकल हो पड़ी—फिर तुमने मुझसे छिपाया क्यों पूरवी ? मुझे सन्देह में क्यों रखा ? जब तुमको मैंने सम्मान के साथ उठा ले जाना चाहा था, तो उसे तुमने ठुकरा क्यों दिया ? अब इस अन्तिम बेला में तुम यह कौन-सी पूरवी सुना रही हो पूरवी ?’

‘सौंभ बेला की मीठी पूरवी, पृथ्वीश बाबू। कहा क्यों नहीं ? अच्छा, जाने दो उस बात को। मरते वक्त अपना बोझ तुम्हें सौंपे जाती हूँ। मुझे अटल विश्वास है कि उसे तुम ढो लोगे। मेरी असहाय बहनों को तुम देखना, और यदि हो सके तो उस काँरी बहन की शादी करा देना। और यदि स्वयं तुम ही उसे ग्रहण कर सके...’—पूरवी चुप हो गई।

‘यदि जीवित पूरवी को मैंने दुःख ही दुःख दिया हो, यदि उसका एक भी अनुरोध कभी न रखा हो, तो...जाने दो उस बात को। किन्तु तुम्हारा अन्तिम अनुरोध रखने की चेष्टा करूँगा पूरवी।’

पूरवी ने सन्तोष की साँस ली। गायक आ पहुँचा।

‘कौन-सी रागिनी सुनाऊँ बाईजी ?’—गायक ने पूछा।

‘हलकी चीज़। दुःख-वेदना के समस्या-भार से जीवन दबा हुआ है। अब चाँहिप हलकी खुशी। पीलू सुनाओ उस्ताद।’

और धीरे-धीरे उस गान की सुनते-सुनते पूरबी नींद में अचेत हो गई । कमलेश ने नब्ज देखी । एक चादर उस पर ढँककर वह बाहर हो गया । दासी-चाकर उस शव को घेरकर रो उठे ।

पृथीश की तन्द्रा टूटी । वह शान्त स्वर में चुपचाप कहने लगा—चुप-चुप, यह आराम से सो रही है । चिल्लाकर इसकी नींद मत खराब करो । चुप-चुप ! चिल्लाओ मत । धीरे बोलो । देखते नहीं, यह सो रही है !

रूपरेखा नैहर से तब भी न लौटी थी । पूजा-पाठ, व्रत-नियम से जितना समय बचता था, उसे सविता गृहस्थी में लगाती । इससे अधिक नहीं । और कमलेश के दिन एक आच्छन्न तन्द्रा के भीतर कट रहे थे ।

कमलेश को जाने एक कैसी क्लान्ति दिन-रात घेरे रहती । उसकी प्रिय पुस्तकों पर धूल जमी रहती । उस ओर वह देखकर भी न देखता । उद्-भ्रान्त-सा वह कमरे की दालानों में घूमता रहता । कभी बिना कारण पूजाघर के सामने खड़ा रहता ; कारण-अकारण सविता को बुलाता ; पूछने पर कह देता—मैंने तुम्हें कब बुलाया ।

शराब का पीना बढ़ जाता । सविता कभी निषेध करती, अनुनय से बोतल छीनना चाहती । कमलेश चिल्लाकर कहता—यह भी न पीऊँ तो क्या तुम लोग मुझे पागलखाने भेजना चाहती हो ?

सविता भय से हट जाती । रूपरेखा के लौटने की बाट जोहती ।

उस दिन यों ही बैठा कमलेश शराब की बोतल खाली कर रहा था । पहुँच गया पृथीश । कमलेश ने आँखें चठाईं । पृथीश के पीछे उस सुन्दरी युवती को देखकर वह कम विस्मित न हुआ ।

‘भाभी अब तक नहीं लौटीं ? किन्तु अकेले मुझसे कारखाने सँभलते नहीं । माभी ने बड़ी देर लगा दी ।’

‘बैठो पृथीश । आप भी बैठिए देवीजी ।’

‘बैठो अनिता । यह मेरी पत्नी हैं कमलेश । पूरबी की बहन अनिता यही हैं । जल्दी में शादी की, तुम्हें खबर भी न कर सकी ।’—पृथीश ने कहा ।

पूरबी के नाम से कमलेश चौंका । उसने उस स्त्री को अच्छी तरह से

देखा। एक साधारण स्त्री अपने सामने बैठी पाया। इस स्त्री में पूरवी की आकृति की छाया तक न थी।

‘भाभी को लेने के लिए यहाँ से कोई जायेगा?’ पृथ्वीश ने पूछा।

‘यहाँ से? तो भेज दूँगा किसी को।’

इस उत्तर से पृथ्वीश भुँभलाया—तकलीफ करने की तुम्हें कोई जरूरत नहीं, हम ही दोनों जाकर उन्हें लिवा लायेंगे।

दस-पाँच मिनट के बाद पृथ्वीश और अनिता ने बिदा माँगी।

रह गया कमरे में कमलेश अकेला। भीतर से द्वार रुद्ध कर वह शराब ढालने लगा और ढालता ही रह गया।

कमलेश ने बोतल की शेष बूँद तक को चूसकर बोतल दूर फेंक दी। किन्तु फिर भी तृष्णा की शान्ति न हो सकी। उसे लगने लगा, उसकी शिरा-उपशिराएँ तृष्णा से आतुर हो रही हैं और अभी-अभी ये फट पड़ेंगी।

विरक्त और अशान्त कमलेश कमरे में उन्मादी-सा विचरण करने लगा। नसों की तृष्णा को वह कौन-सी वस्तु से शान्त करे? बिजली के तीव्र प्रकाश से उसकी आँखें फटने लगीं। बत्ती बुझाकर वह कोच पर बैठ गया। उस अन्धकार में बैठा-बैठा वह अपने अशान्त चित्त को शान्त करने की चेष्टा करने लगा। उठकर वह शयन-कक्ष में जाना चाहने लगा। कमलेश उठा और फिर बैठ गया। इस लायब्रेरी में चहुँओर से जाने कैसा एक आकर्षण, जाने कैसे दो निर्भरशील हाथों ने आकर उसे आवेष्टित कर लिया। और उस आवेष्टन में चकराया-सा बैठा रह गया कमलेश।

कैसी यह तृष्णा है? सभी कुछ को अस्वीकृत करनेवाले, प्रेम तक को न माननेवाले उस डाक्टर के मन में विचार उठा—कैसी यह तृष्णा है? कैसा यह आकर्षण है? किस लिए यह पागलपन है? क्या इसी को प्रेम कहते हैं? क्या इसी की बात पूरवी मेरी नसों में भर गई है? प्रेम? क्या यही है वह प्रेम, जिसके रूप में पृथ्वी मुग्ध है? यही है वह प्रेम, जो कुत्सित धड़ के ढाँचे को सुन्दर बना देता है? तो क्या मैं...

कुछ विश्वास, कुछ अविश्वास से कमलेश उस अन्धकार में बैठा अपने

हृदय के प्रति निहारने लगा। एक सरल सुन्दर मुख को पाया उसने अपने हृदय में। डाक्टर सिहर उठा—यह तो भोली सविता है। यह मेरे हृदय में कब और कहाँ से आ बसी ?

और रूपरेखा ? अपने हृदय में कमलेश ने उसकी खबर तक न पाई। पाई केवल सविता। उस अन्धकार में सविता को हृदय में दबाकर अविश्वासी डाक्टर बैठा रह गया। बैठा-बैठा न जाने कब वह लेट रहा।

शायद वह नींद में था, शायद वह जाग रहा था। उसके बन्द नेत्रों के भीतर एक अनुपम सुन्दरी आकर खड़ी हो गई।

‘पूरबी’—कमलेश चिल्लाकर कहना चाहने लगा ; किन्तु उसके कंठ से स्वर बद्धे-सा हो रहा। देखते ही देखते पूरबी के स्थान पर एक कंकाल अड़ गया।

‘मानव का वास्तविक रूप’—स्थान-अक्षर में कंकाल पर लिखे हुए इन शब्दों को कमलेश ने पढ़ा।

‘कहाँ गई पूरबी ?’—कमलेश का स्वर एक आर्तनाद-सा ध्वनित हो उठा—आँ-आँ-आँ।

कंकाल के हृदय में एक हीरक-प्रदीप जल उठा और उसमें लिखे अक्षर ‘प्रेम’ को अनायास कमलेश ने पढ़ लिया।

इसके बाद वह कुछ न रहा। एक चन्दन-तिलक-मोर बाँधे दूल्हा खड़ा हो गया और खड़ी हो गई एक माधवी-लता-सी तरुणी। वर ने अपने गले की पुष्पमाला तरुणी के कंठ में डाल दी और बाहर काग कलरव कर उठे। प्रातः का धूमिल प्रकाश कमरे में फैल गया। घर्माक्त कमलेश उठकर बैठ गया।

दुनिया को न माननेवाला डाक्टर दुनिया के इस अद्भुत कौतुक से चकित, विस्मित, प्रभावित हो रहा।

रोमाञ्चित कमलेश उन्मादी-सा हँस उठा—आखिर बाईजी, तुम ही जीतीं।

भोर के हलके पवन में कमलेश की हँसी व्याप गई, और उस उन्मादी हँसी के साथ अन्तरिक्ष की वह रँगीली मुस्कान मिलकर एकाकार हो रही।

[४४]

दाता का दान था और शिल्पी का अखण्ड मनोयोग। उद्यान की हरियाली थी और पुष्करिणी का शान्त गान।

शिवजी का मन्दिर एक देखने की वस्तु हो रही थी। आडम्बर के साथ शिव-दुर्गा की प्रतिष्ठा मन्दिर में हो चुकी थी।

रात की काली घटा पृथ्वी पर छाई हुई थी। और पुष्करिणी की हरियाली-सी सविता शान्त चित्त से मन्दिर में बैठी कमल-फूलों का हार गूँथ रही थी। राशिकृत फूल मन्दिर में रखे हुए थे। स्वर्ण-सिंहासन पर मूर्तियाँ रखी थीं। बृहत् पीतल का घृत-दीप मन्दिर में जल रहा था। अगरु चन्दन की गन्ध से मन्दिर भरा हुआ था।

वह बैठी निविष्ट चित्त से हार गूँथ रही थी। इन्हीं फूलों से वह शिवजी की सेज रचेगी और हार पार्वती को पहनायेगी। ऐसा वह नित्य किया करती।

आधी के उन्माद की तरह मन्दिर में प्रवेश किया कमलेश ने। उस उन्मत्त आकृति को देखकर सविता सिहर उठी।

‘वैठो, वैठो, बैठ जाओ।’—त्रस्त सविता ने कमलेश को पकड़ लिया—क्या हुआ है तुम्हें?

कमलेश जब सँभल सका तो बोला—अपने वचन के अनुसार मैं तुम्हारे द्वार पर आज आ गया हूँ सविता। एक दिन जिस प्रेम को मैं घृणा करता था, जिसे एक खेल समझता था, उसी का पुजारी आज बन गया हूँ। सुन रही हो सविता? आज तुम मुझे विमुख तो न करोगी? खेल खेल का वह माला-दान मेरे जीवन में वास्तविक हो जायेगा, इसे मैं कहाँ सोच सका था? और तुम? हाँ, तुमने तो उसे उसी वक्त सच मानकर सम्मान का आसन दे डाला था, सो ठीक है; किन्तु मैं तो उसे खेल ही समझे हुए था। सुन रही हो न सविता?

सविता रोमाञ्चित हुई, सिहरी।

‘आज इतने दिनों के बाद?’—रुक-रुककर वह बोली।

‘सुन रही हो न सविता ? दिन-रात मुझे शान्ति नहीं मिलती । नींद में तुम आ बसती हो । तुम विवर्ण क्यों हो रही हो ? मुझे फेर तो न दोगी ? सुन रही हो न सविता ?’

व्यथा से सविता का मुँह पीला पड़ गया—किन्तु देर तो तुमने बहुत लगा दी । मैं क्या करती ? मेरी प्रतीक्षा के दीर्घ दिन, पल, घड़ियाँ जब दीर्घश्वास में वाष्प होकर उड़ गईं, जब अनादर से, उपेक्षा, कट्टाकृति, निराशा से मन्दिर में बैठे हुए देवता के चरणों में मेरे प्रेम की समाधि बन गई तब तुम आये मेरे स्वामी । अब इस सूने मन को लेकर तुम्हारी सेवा कैसे करूँ ? तुम इतनी देर लगा दोगे सो कौन जानता था ? मेरे वासर के तो सब दीप बुझ चुके । अब मैं कौन-सा दीप जलाकर तुम्हारी आरती उतारूँ ?

कमलेश सहमकर उठ बैठा—यही है मेरा दण्ड सविता ! अनादर-अवहेलना से जैसे तुम्हें मैंने खो दिया, उसी भाँति आजीवन मैं जलता रहूँगा ?

सविता स्तब्ध रह गई । जब वह सब कुछ का अन्त कर बैठी तब उस अन्तिम बेला में जीवन का यह कैसा निष्ठुर कठोर परिहास है ? कैसा ? कैसा यह जीवन का विद्रोह-व्यङ्ग है ? स्तब्ध रह गई सविता—विमूढ़, निर्जीव-सी ।

‘चला मैं सविता । तुम्हारे बिना जीवन एक बोझ-सा लग रहा है ।’

सविता विचलित हो गई । एक आकुल-क्रन्दन से उसका स्वर भारी हो गया—मत जाओ, मत जाओ ।

कमलेश लौट पड़ा । पछा—रानी सवि, क्या तुम्हारा प्रेम निःशेष हो चुका है ?

सविता चुप रही । वेदना की गहरी छाया उसके मुँह पर व्याप गई ।

‘समझ गया सविता ! किन्तु क्या वह फिर से जीवित नहीं हो सकती है ? क्या तुम मेरे लिए जरा भी चेष्टा नहीं कर सकती हो ? नाहीं मत करो । चेष्टा करना, सुन रही हो न सवि रानी ! प्रयत्न करना । मेरे लिए, अपने अनुत्तम पति के लिए चेष्टा करना, सविता ! रूपरेखा को ? नहीं, मेरे मन में इतनी जगह नहीं है, जहाँ तुम्हारे साथ वह भी समा सके । दुनिया उसे

मेरी धर्मपत्नी कहकर जानती है ; किन्तु मेरे मन ने जाना-पहचाना है तुम्हें । चाहे यह परिहास हो, चाहे जो कुछ हो । किन्तु...'

'परन्तु पृथ्वी के दुर्गम पथ में तो रूपरेखा ही तुम्हें दीप दिखाती ले जायेगी ।'—धीरे से सविता बोली ।

'रूपरेखा नहीं, सविता । मुन रही हो न सवि रानी ?'

'शाबाश कमलेश, शाबाश ।'—रूपरेखा को पित्रालय से लेकर तभी पृथीश लौटा था और जब घर में कोई न दीखा तो रूपरेखा और वह मन्दिर तक पहुँच गये । कमलेश ने मुड़कर देखा, पृथीश और रूपरेखा खड़े थे ।

'अगर ऐसा ही था तो तुमने भाभी से शादी क्यों की ? क्यों उसकी जिन्दगी बर्बाद कर दी कमलेश ?'

'अपनी इच्छा से मैंने विवाह नहीं किया । माँ के कार्य के लिए मैं उत्तर-दायी नहीं हो सकता हूँ पृथीश ।'

अवहेलना से रूपरेखा ने एक बार उन दोनों को देखा; फिर चलने को हुई ।

पृथीश ने उसे रोक लिया—ठहरो भाभी । मैं भी चलता हूँ । और सविता, तुम ? संसार में भोली बनी फिरती हो, सती बनी फिरती हो । और तुम सविता, ऐसी हो ! मन्दिर को अपवित्र करने से भी नहीं डरती ? प्रेम करने की जगह भी अच्छी चुन ली है । और तुम सविता, कौन से अधिकार के बल पर सती के पति को निगले बैठी हो ? पतिता ? एक की उप-पत्नी तुम कौन-सी स्पर्द्धा में भूली हो ? किस साहस से देवता को पूजती हो ?

सविता काँप उठी । एक भीरु चिड़िया-सी वह अपने-आपमें समा जाना चाहने लगी । कमलेश ने एक बार उस आनतमुखी, असहाय नारी के प्रति देखा, फिर शान्त स्वर से बोला—बस करो पृथीश, किससे क्या कह रहे हो ? सविता मेरी विवाहिता पत्नी है, उप-पत्नी नहीं ।

यदि मन्दिर में वज्राघात होता, यदि उसी दम पृथ्वी अतल में समा जाती तो भी शायद वे दोनों ऐसे चकित न होते ।

पृथीश जब बोल सका तो उसने यही पूछा—क्या यह बात सच है सविता ?

‘उससे क्या पूछते हो ? वह जीवन भर यों ही बहरी-गूँगी बनी रहेगी । विस्मित हो रहे हो पृथीश ? मैं स्वयं विस्मित हूँ कि सब कुछ जानकर भी इतने दिन तक मैं अनजान कैसे बना रहा ?’

‘तुम दोनों विवाहित हो ?’—पूछा फिर अविश्वास से पृथीश ने ।

‘बहुत पहले । तुम्हारी भाभी के विवाह से भी पहले ।’

‘प्रमाण दे सकते हो कमलेश ?’

कमलेश खिन्नता से हँसा—इसकी जरूरत नहीं है भाई । प्रमाण की कसौटी पर चढ़ाकर मैं उस स्त्री का अनादर और अपमान नहीं कर सकता हूँ, जिसने सब कुछ जानते हुए भी घर का गृहिणीत्व एक दूसरी स्त्री को सौंपकर इसी घर में दासी-सा जीवन बिताया है । और जिसने अभी-अभी सब कुछ अस्वीकार कर दिया है ।

रूपरेखा विमूढ़-विस्मय से उस गृहस्वामिनी को देखने लगी । और देखते-देखते सम्मान, श्रद्धा, व्यथा, सहानुभूति से उसका जी भर आया । विचारने लगी रूपरेखा—इस रूपसी ने किसलिए ऐसा अत्याचार सह लिया ? सब कुछ की अधिकारिणी होकर भी एक उपपत्नी की तरह रहना इसने किसलिए और क्यों स्वीकार किया ? अभागिनी सविता ! सहानुभूति से रूपरेखा का हृदय भर उठा ! यदि यह चाहती, तो एक दिन अनायास ही इस घर की स्वामिनी हो सकती थी ; किन्तु इसने वैसा कुछ क्यों न किया ? वरन् विनीत दासी-सा इसने जीवन बिता दिया और ब्रिताती ही चली जा रही है । और यदि मैं इसके स्थान पर होती ? रूपरेखा सिहरी । नहीं-नहीं, इस जीवन में वह जी नहीं सकती थी । पति के घर पर ही उपपत्नी के नाम से वह रह नहीं सकती थी ।

सविता की अपने से तुलना करने बैठकर रूपरेखा स्तब्ध रह गई । कैसा है यह प्रेम—विचार चली वह—जिस प्रेम ने दुनिया में अपनी हीनता स्वीकार कर ली, पति के घर दासी से भी अधम होकर रहना अनायास मान लिया, और सबसे बड़ी बात तो यह कि इसके लिए न उसने कभी अनुयोग किया और न असन्तोष जताया, कैसा है यह प्रेम ? और वह स्वयं ? किन्तु

फिर भी जगत में उसके सम्मान का आसन अलुण्ण है। घर की पूर्ण स्वामिनी है वह। अपना अधिकार गृहस्वामिनी ने अनायास उसे सौंप दिया और स्वयं एक भिखारिनी-सी रहती आई। इस भयानक अत्याचार के विरुद्ध उसने मुँह से शब्द मात्र न निकाला !

नारी अपने को विशेष कर प्रीतम के चरणों में लुटा कैसे दे सकती है ? विचारती रही रूपरेखा—कैसा यह अन्या प्रेम है, किसके लिए आदमी अपनी इच्छा, प्रवृत्ति, आत्म-सम्मान तक की बलि दे बैठता है ? यह जो मुट्ठी भर फूल-सी, आनतमुखी नारी सामने बैठी है, इसने उस बृहत् त्याग के बदले दुनिया में क्या पाया ? केवल लांछना, केवल अश्रद्धा, केवल घृणा। किन्तु फिर भी इसका वह विराट् प्रेम जीवित रह गया, इसी के उदार हृदय में कापुरुष, निष्ठुर प्रिय के विरुद्ध कभी अनुयोग भी न उठा होगा। जिसने अनायास इसे उप-पत्नी के आसन पर वैठा दिया, उसी अविवेकी कापुरुष के लिए इसके मन में निविड़ श्रद्धा और असीम प्रेम बना रहा। बेचारी, दुःखिनी नारी ! विचारते-विचारते रूपरेखा आर्द्र हो गई। सम्भ्रम-सहानु-भूति से वह सविता के सामने चली गई—बहन, अपनी गृहस्थी संभालो। मुझे आज से छुट्टी दे दो।

सविता मलिन हँसी—घर की बहू को कहाँ छुट्टी मिल सकती है रूप-रेखा ! घर की बहू घर ही में रहेगी और आज मैं तुम सबसे छुट्टी माँग रही हूँ बहन।

‘तुम ! तुम कहाँ जाओगी सविता ? तुम्हारे बिना मैं जीऊँगा कैसे ?’—कमलेश ने कहा।

उस आतुर स्वर को सुनकर रूपरेखा के कठोर नेत्रों तक में जल भर आया।

‘किन्तु कल तो मुझे नायबजी के साथ तीरथ जाना है न ?’—मृदु स्वर से बोली सविता।

इसके बाद सविता ने समाहित चित्त से घृत-पंच-प्रदीप थाल में रख लिये। ज्वलन्त अंगार में मुट्ठी भर धूप छोड़ा। धूपदानी में धूप जलने लगी। मन्दिर का भृत्य काँसर, घण्टा बजाने लगा। उस ध्वनि से खेचर-भूचर स्तब्ध

हो रहे। चन्दन-चर्चित देवी के गले में पुष्पहार भूमने लगे और पुजारिनी सविता कुण्डलाकार धूम में खड़ी देवी की आरती करने लगी। उसके मीठे स्वर के स्तव-गान में भक्ति साकार हो रही। दर्शकत्रय निविड़ विस्मय से उस दृश्य को देखने लगे। मन्दिर के बाहर अन्धकार निविड़ हो रहा और भीतर भक्ति जीवित हो उठी। क्रमशः दर्शकों के विस्मय का स्थान श्रद्धा ने ले लिया। पलक-हीन नेत्र से वह देखने लगे—उस कुण्डलाकार धूम में काँसर-घण्टा-ध्वनि समा-सी गई। और देखते-देखते उस धूम में मन्दिर की पुजारिनी समाने-सी लग गई। रह गई मात्र उस पुजारिनी की एक अस्पष्ट छाया और वह छाया क्रमशः शिव-दुर्गा की मूर्ति में समाने-सी लग गई। शेष रह गया केवल कुण्डलाकार धूम, और धूम के अप्रभाग में एक विद्युत्-सी तीव्र, गोलाकार ज्योति। दर्शकों के नेत्र ढक-से गये।

शंख-घण्टा की अन्तिम ध्वनि वायु में विलीन हो गई और उसके साथ ही एक मीठी आवाज कूक उठी—देवी का चरणामृत ले लो। तीनों ने आँखें खोलकर देखा, पुजारिनी सविता, देवता के निर्माल्य-सी सविता चरणामृत लेने के लिए सामने खड़ी उन्हें पुकार रही है।

मन में एक अपूर्व पुलक लिये सब लोग मन्दिर से निकल आये।

[४५]

उस दिन का प्रातःकाल कमलेश के घर उदास होकर आया, बिलकुल उदास। नायबजी सामान लेकर गाड़ी पर बैठे। सविता को बिदा देते रूपरेखा के नेत्र सजल हो गये।

कमलेश सामने आकर खड़ा हो गया—जाओगी? सविता? मुझे अकेला छोड़कर चली ही जाओगी? उस काली रात की तरह जाने कितनी रातें आया करेंगी। तब मेरा हाथ पकड़कर कौन रास्ता दिखलायेगा?

‘रूपरेखा की विकीर्ण ज्योति में तुम पथ का निर्देश पा जाओगे। अच्छा तो बिदा।’—संयत स्वर से सविता ने कहा।

‘बिदा? नहीं। मुझे वचन देती जाओ रानी। लौट आने का वचन देती जाओ।’—कमलेश ने आतुरता से कहा।

‘वचन ? किन्तु उसे लेकर क्या करोगे ? यदि मैं कभी लौट सकूँ तो लौटूँगी जरूर । निश्चय कुछ भी तो नहीं कहा जा सकता है अभी से ।’—चलते-चलते सविता ने एक बार पीछे लौटकर देखा । कमलेश के उदास मुख ने उसके हृदय को व्यथित कर दिया । चिर-परिचित घर-द्वार को उसने एक बार आकुल-वृषित नेत्रों से देखा ; फिर गाड़ी में बैठ गई ।

गाड़ी चलने लगी । वह झुककर मकान को देखने लगी—उसी मकान को, जहाँ पर वह अपना सब कुछ छोड़ आई है, सब कुछ लुटा आई है । और शायद सब कुछ का अन्त कर आई है ।

धीरे-धीरे गृह, उद्यान दृष्टिपथ के बहिर्भूत हो गये और तब सविता ? वह दोनों हाथों से मुँह ढाँककर गाड़ी पर बैठ गई । कौन जाने उसके उन बन्द नेत्रों के भीतर आँसू थे या खुशी ।

X

X

X

आज भी आकाश के तारे वैसे ही जलते । चाँद-सूर्य वैसे ही रहते । उद्यान के पुष्प वैसे ही खिलते । संसार का चक्र वैसे ही चलता । कदम्ब पर कोयल वैसे ही कूकती । कमलेश के उद्यान में साँझ-सबेरे देव-बालाओं की भीड़ वैसे ही जमती । मन्दिर में पूजा भी वैसे ही होती । और संसार की इस मिथ्या भावना को देख-देखकर मन्दिर के शिव वैसे ही हँसते । आज भी पवन में एक हलकी मुस्कान थिरकती रहती । अपनी ज्योति में विकीर्ण रहकर रूपरेखा एक-सा बाहर-भीतर का काम सँभालती । दो वर्ष एक-से बीत गये । सविता अब भी घर न लौटी । घर की बहू सूने मन्दिर को देखती और दीघ-श्वास लेती । आज भी कमलेश विपुल आशा, आकुल प्रतीक्षा से सविता के लिए दिन, घड़ी, पल गिना करता, और आज भी एक विराट् स्मृति मन्दिर को घेरकर सिसकती रहती । और जिन्दगी वैसे ही मुस्कराती ।

